हिन्दी-गद्य
विकास और परम्परा

Hindi Gadya : Vikas aur
Param

(criticism)

लेखक P. S. Kam

डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

एम० ए० पी-एच० डी०

हिन्दी विभाग, आगरा कॉलिज, आगरा

Bansal & Co. Del

2.

वितरक

बंसल एण्ड कम्पनी

प्रकाशक व पुस्तक-विक्रेता

दिल्ली

प्रकाशक :
श्री रघुवीरशरण बंसल
संचालक, साहित्य संस्थान, दिल्ली

•

मूल्य : २.५०

•

मुद्रक :
श्री गोपीनाथ सेठ,
नवीन प्रेस, दिल्ली

वक्तव्य

'हिन्दी गद्य : विकास और परम्परा' अपने नाम के अनुकूल हिन्दी-गद्य की व्यापकता का परिचय देने वाली पुस्तक है। आज जिस गति से हिन्दी आगे बढ़ रही है उस गति से उसकी परिचयात्मक पुस्तकें नहीं बढ़ रहीं; इसलिए प्रस्तुत पुस्तक की रचना हुई है। हमारा विश्वास है, इतनी छोटी किसी पुस्तक में हिन्दी-गद्य पर इतनी सामग्री का उपलब्ध होना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। इसमें सरल भाषा तथा सुबोध शैली में पुरातन तथा नूतन विधाओं का पूर्ण परिचय दिया गया है। कोई विषय छूटने नहीं पाया है। इसके साथ-साथ उसके इतिहास और क्रमिक विकास पर भी नये सिरे से विचार हुआ है। नवीनतम शोधों के प्रकाश में गद्य के विकास का इतिहास और उसकी दूसरी विधाओं का विवेचन प्रस्तुत करने के अतिरिक्त स्थान-स्थान पर स्वतंत्र मत का प्रकाशन भी हुआ है।

निश्चय ही हमने श्रम को अपना पथ-प्रदर्शक माना है और ईमानदारी को संबल। फिर भी त्रुटियों का रह जाना संभव है। अतः हम शुभचिन्तकों के सुझावों को नतमस्तक होकर स्वीकार करेंगे। और उनके अनुसार त्रुटि-परिमार्जन का प्रयत्न होगा। हाँ, कलेवर की लघुता के कारण कुछ अपेक्षाकृत कम महत्त्व के लेखकों तथा कृतियों का उल्लेख हमसे नहीं किया जा सका, इसका हमें दुःख है।

अन्त में जिन विद्वान्-लेखकों की कृतियों और पत्र-पत्रिकाओं से इस पुस्तक के लिखने में सहायता मिली है, उनके लेखकों और सम्पादकों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करके हम अपना वक्तव्य समाप्त करते हैं।

आगरा कॉलिज

आगरा

पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

क्रम

१

गद्य का विकास

हिन्दी-गद्य का क्रमबद्ध इतिहास उन्नीसवीं शताब्दी से मिलता है। यह वह समय था जब अंग्रेज़ों और अंग्रेज़ी शिक्षा के सम्पर्क से मध्य-कालीन सामन्ती व्यवस्था का ढाँचा अस्त-व्यस्त हो रहा था और भारत नवजागरण के सुखद स्वप्न देख रहा था। प्रेस, यातायात के साधन, पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव आदि ने मिलकर भारतीय जनता के जीवन के बौद्धिक पक्ष को प्रबल बनाने पर बल दिया। यद्यपि अंग्रेज़ों ने अंग्रेज़ी भाषा का पठन-पाठन अपने स्वार्थ के लिए आरंभ किया था तथापि उसके द्वारा ज्ञान के नव-नव द्वार खुले और अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रीय चेतना का उदय हुआ। ज्ञान-विज्ञान की अनेक शाखाएँ अंग्रेज़ी गद्य के माध्यम से यूरोप में फल-फूल रही थीं। जब गद्य की दृष्टि से सम्पन्न यह विदेशी भाषा देश में शिक्षा का माध्यम बनी तो स्वभावत: पद्य के पालने में झूलती हुई हिन्दी-भाषा गद्य के राज-पथ पर पद-संचरण करने लगी। सन् १८०० ई० में फोर्ट विलियम कॉलिज की स्थापना से देशी भाषाओं में साहित्य-रचना का कार्य बड़े जोर-शोर से शुरू हुआ। सामान्यत: साहित्यिक और विशेष रूप से शैक्षिक पुस्तकों का प्रणयन कराना ही तत्कालीन कॉलिज-अधिकारियों की नीति थी।

लेकिन सन् १८०० से पहले भी हिन्दी-गद्य की परम्परा का सूत्र-पात हो चुका था। कुछ लोगों का मत है कि जब हिन्दी-गद्य पर विचार किया जाय तब केवल खड़ी बोली-गद्य पर ही ध्यान केन्द्रित होना

चाहिए; क्योंकि आज हमारी गहन अनुभूति और सूक्ष्म चिन्तन की अभिव्यक्ति का माध्यम यही भाषा है। इस दृष्टि से खड़ी बोली-गद्य को छोड़कर अन्य भाषाओं के गद्य पर विचार करना नितान्त अनावश्यक है। लेकिन ऐसे लोगों को यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि हिन्दी-साहित्य की समस्त सामग्री पर विचार करते समय हम राजस्थानी, मैथिली, व्रज आदि भाषाओं के काव्य पर ही आधारित रहते हैं। अपने जन्म-काल से हिन्दी-भाषा अपनी उन उपभाषाओं के साहित्य द्वारा ही समृद्ध हुई है। यही नहीं हिन्दी के इतिहास को विद्वान्, पुष्ट प्रमाणों द्वारा सातवीं और आठवीं शताब्दी से प्रारंभ हुआ सिद्ध कर चुके हैं। खोज और प्रयत्न निरन्तर जारी हैं और आश्चर्य नहीं कि संस्कृत से प्राकृत, प्राकृत से अपभ्रंश और अपभ्रंश से देश-भाषाओं के उद्भव का जो क्रम है वही क्रम गद्य के स्वरूप-विकास के सूत्रों को भी उसी प्रकार जोड़ दे, जैसे वह इन भाषाओं की शृंखला को जोड़ रहा है। ऐसे प्रयत्न हुए भी हैं। ऐसी दशा में भले ही मध्यकालीन गद्य विषय-निरूपण की वह क्षमता प्राप्त न कर सका हो जो खड़ी बोली के आधुनिक गद्य को प्राप्त है; पर उसके स्वरूप-ज्ञान के अभाव में हमें खड़ी बोली-गद्य के उद्भव और विकास की भी ठीक-ठीक जानकारी नहीं हो सकती। इसलिए हम खड़ी बोली से पहले पद्य की माध्यम राजस्थानी, मैथिली, व्रज आदि भाषाओं के गद्य का संक्षिप्त परिचय पा लेना आवश्यक मानते हैं; जिससे खड़ी बोली-गद्य सहसा ही उद्भूत न जान पड़े और उसकी एक व्यवस्थित परम्परा के दर्शन हो सकें।

राजस्थानी गद्य—हिन्दी के आदिकालीन साहित्य की भाषा पर राजस्थानी भाषा का प्रभाव सर्वविदित है। उस भाषा के गद्य का प्रारंभ ईसा की बारहवीं शताब्दी से माना जाता है। **दानपत्र, पट्टे-परवाने, जैनियों के धार्मिक उपदेश, राजनीति, इतिहास, गणित** आदि अनेक प्रकार की रचनाएँ राजस्थानी गद्य में उपलब्ध हैं। टीकाओं और अनुवादों का तो अपार भण्डार है। इस आधार पर यह कहना

अनुचित न होगा कि उसका गद्य व्रज की अपेक्षा प्राचीन और सम्पन्न है। उसके विकास में जैन विद्वानों का विशेष हाथ होने से वह संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश से अधिक प्रभावित है।

वचनिकाओं, ख्यातों और **वातों** में राजस्थानी गद्य के विविध रूप देखने को मिलते हैं। वचनिकाओं में 'अचलदास खीची री वचनिका सिवदास री कही' और 'वचनिका राठौर रतनसिंह री महेस दसौत री खिरिया जागी री कही' विशेष प्रसिद्ध हैं। इन वचनिकाओं में प्राकृत की कथा और आख्यायिकाओं में प्रयुक्त गद्य का परवर्ती विकसित रूप है। इसमें तुकान्तता की प्रधानता है।

राजस्थान के सिसोदिया, राठौर, चौहान, कछवाहे आदि राज-वंशों के यश की कथा ख्यातों में सुरक्षित है। ख्यातों की संख्या बहुत है। इनमें सबसे प्रसिद्ध **ख्यात** 'मुहणोत नैणसी' की है। यह सन् १६६५ की रचना है। इस प्रकार की ख्यातों का आरंभ 'आइने अकबरी' के अनुकरण पर हुआ था और इनका ऐतिहासिक महत्त्व है।

राजस्थानी गद्य का महत्त्वपूर्ण अंग वातों में भी है। इनका निर्माण इतिहास, पुराण, नीति तथा धर्म-सम्बन्धी विषयों के प्रतिपादन के लिए हुआ था। कुछ में साहित्यिकता भी उच्चकोटि की है। **कविराजा बाँकीदास** का वातों का साहित्य सर्वाधिक विशाल है। इन वातों का मूल 'वार्ता' में है। इनकी भाषा डिंगल होती है। वातों के अतिरिक्त **विगत, पीढ़ी** तथा **वंशावलियों** में भी राजस्थानी गद्य की विविध शैलियों के दर्शन होते हैं। सन् १८४७ में **फतहराम वैरागी-कृत 'पंचाख्यान'** में राजस्थानी गद्य का स्वच्छ रूप देखा जा सकता है।

अध्ययन करने पर पता चलता है कि राजस्थानी गद्य धीरे-धीरे संस्कृत और अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त होता चला गया है। आगे चलकर उसमें व्रजभाषा का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। ऐसा लगता है कि साहित्य में जब व्रजभाषा का महत्त्व बढ़ा तब राजस्थानी को भी उससे प्रभावित होना पड़ा। लेकिन साथ ही यह भी मानना

पड़ेगा कि स्वतंत्र ग्रंथ-रचना, टीका और अनुवाद की जो परम्परा राजस्थानी गद्य में थी उसीको लेकर व्रजभाषा-गद्य चला। यों राजस्थानी गद्य ने व्रजभाषा-गद्य का मार्ग प्रशस्त किया।

मैथिली-गद्य—मैथिली गद्य का प्रारंभ ईसा की चौदहवीं शताब्दी से माना जाता है। ज्योतिरीश्वर ठाकुर-कृत 'वर्ण रत्नाकर' में मैथिली गद्य का प्राचीनतम रूप मिलता है।

'वर्ण रत्नाकर'-जैसे शुद्ध गद्य-ग्रंथों के अतिरिक्त 'कीर्तिलता'-जैसे गद्य-पद्य-मिश्रित चम्पू शैली के ग्रंथों में मैथिली गद्य का वह रूप देखने को मिलता है जो संस्कृत की आलंकारिक शैली के गद्य के अनुकरण पर विकसित हुआ है। प्राकृत की 'लीलावती'-जैसी पद्य-कथाओं में जैसे थोड़ा-थोड़ा गद्य रहता था ऐसे ही 'कीर्तिलता' में है। यों 'कीर्तिलता' एक विकसित और पुष्ट परम्परा की रचना है, जो प्राकृत से चली आती हुई अविच्छिन्न गद्य-शैली की धारा का परिचय देती है।

व्रजभाषा-गद्य—राजस्थानी और मैथिली गद्य की परम्परा में ही व्रजभाषा-गद्य का भी अध्ययन आवश्यक है। राजस्थानी गद्य के विवेचन के प्रसंग में हम कह आये हैं कि व्रजभाषा जब काव्य की व्यापकता को लेकर राज्याश्रय में फलने-फूलने लगी तब उसने राजस्थानी गद्य की शैली को आत्मसात् करने की पूरी-पूरी चेष्टा की। राजस्थानी की भाँति व्रजभाषा का गद्य भी मौलिक अनुवाद और टीका के रूप में मिलता है। मौलिक रूप में जो गद्य मिलता है उसमें धार्मिक, साहित्यिक और फुटकर विषयों पर अनेक रचनाएँ उपलब्ध हैं। धार्मिक रचनाओं में नाथ-सम्प्रदाय, राम-सम्प्रदाय और कृष्ण-सम्प्रदाय की रचनाएँ हैं, जिनमें कृष्ण-सम्प्रदाय की रचनाओं का बाहुल्य है। पुराण, महाभारत नीति और चरित्र-सम्बन्धी रचनाएं भी धार्मिक ही हैं। कृष्ण-सम्प्रदाय की जो रचनाएँ मिलती हैं उनमें वल्लभ-सम्प्रदाय और टट्टी-सम्प्रदाय की रचनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

साहित्यिक रचनाओं में रचनात्मक और शास्त्रीय दोनों प्रकार के

ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। रचनात्मक ग्रन्थों में 'विदग्ध विलास' नाटक पर आधारित व्रजभाषा-गद्य का ग्रन्थ श्री रामहरि जी द्वारा लिखा गया था। शास्त्रीय ग्रन्थों में रस, नायिका-भेद, छन्द आदि पर ग्रन्थ मिलते हैं। जैसे—जयगोविन्द वाजपेयी का 'कवि सर्वस्व', वनारसीदास का 'वनारसी विलास', भिखारीदास का 'छन्द प्रकाश' आदि। अन्य मौलिक रचनाओं में ऐतिहासिक, पशु-चिकित्सा-सम्बन्धी और ज्योतिष-विषयक सामग्री है। सन् १७६३ की लिखी 'मुगल वादशाहों का संक्षिप्त इतिहास' नामक एक संक्षिप्त रचना मिली है। व्यास-कृत 'शकुन विचार' और यदुनाथ शुक्ल-कृत 'पंचांग दर्शन' ज्योतिष के ग्रन्थ भी मिले हैं। टीकाओं और अनुवादों की तो भरमार है। यों व्रजभाषा-गद्य अत्यन्त सम्पन्न है।

व्रजभाषा-गद्य के आदिलेखक **गोरखनाथ** माने जाते हैं। गोरखनाथ का समय कोई दसवीं और कोई चौदहवीं शताब्दी मानते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सन् १३४३ (सं० १४००) के आस-पास उनका समय मानते हैं। 'गोरख सार' नामक उनके ग्रन्थ के गद्य का रूप यह है—

"श्री गुरू परमानन्द तिनको दण्डवत है। हैं कैसे वे परमानन्द आनन्द स्वरूप है शरीर जिन्हको, जिन्हके नित्य गाये तें शरीर चेतन्नि और आनन्दमय होतु है। मैं जु हौं गोरिष सो मछन्दरनाथ को दण्डवत करत हौं। हैं कैसे वे मछन्दरनाथ। आतम ज्योति निश्चल हैं अन्तह-करण जिनके अरु मूल द्वार तें छह चक्र जिनि नीकी तरह जानें।"

इसमें 'आनन्द स्वरूप', 'निश्चल', 'मूल द्वार' आदि संस्कृत-तत्सम शब्दों से इसके परवर्ती होने का भ्रम होता है। 'हैं कैसे वे परमानन्द आनन्द स्वरूप है शरीर जिन्हिको'-जैसे वाक्यों का गठन इसे प्राचीन सिद्ध करता है। वस्तुतः यह राजस्थानी के व्रजोन्मुख होने की स्थिति का द्योतक है।

गोरखनाथ के बाद दो सौ वर्ष तक व्रजभाषा-गद्य का पता नहीं चलता। इस आधार पर लोग व्रजभाषा-गद्य की महत्ता को कम आँकते

हैं, परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि एक तो अभी खोज नहीं हुई दूसरे उस काल में राजस्थानी का वह गद्य विकसित हो रहा था जो व्रज से प्रभावित था। यदि हम व्यापक दृष्टि से विचार करें तो हमें अपभ्रंश से राजस्थानी, मैथिली और व्रज तक एक अखण्ड परम्परा मिलती है, जो प्राचीन विशेपताओं और नवीन परिवर्तनों को अपने में निहित किये हुए आगे बढ़ती गई है।

जैसा कि कहा जा चुका है व्रजभाषा-गद्य को पुष्ट करने वालों में कृष्ण-सम्प्रदायों का विशेप महत्त्व है। उनमें भी वल्लभ-सम्प्रदाय सबसे आगे है। इस सम्प्रदाय के आदि संस्थापक **महाप्रभु वल्लभाचार्य** के अनेक ग्रन्थ हैं; जिनमें '८४ अपराध' नामक एक व्रजभाषा-गद्य का ग्रन्थ भी मिला है, जो सन् १५१३–१५२३ के बीच की रचना है। इसकी प्रामाणिकता में सन्देह किया जाता है, लेकिन पुष्टिमार्ग की सांगोपांग उन्नति करने वाले और अष्टछाप की स्थापना द्वारा व्रजभाषा-साहित्य को समृद्ध करने श्री **विट्ठलनाथ** के 'शृङ्गार रस मण्डन' ग्रन्थ को सब महत्त्व का मानते हैं। विट्ठलनाथ जी का समय सन् १५०५ से सन् १५८५ तक माना जाता है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इनकी भाषा का नमूना अपने इतिहास में इस प्रकार दिया है—

"प्रथम की सखी कहतु हैं। जो गोपीजन के चरण विषै सेवक की दासी करि जो इनके प्रेमामृत में डूबिके इनके मन्द हास्य ने जीते हैं। अमृत समूह ताकरि निकुंज विषै शृङ्गार रस श्रेष्ठ रचना कीनी सो पूर्ण होत भई।"

व्रजभाषा-गद्य का प्रौढ़तम रूप विट्ठलनाथ जी के पुत्र **गोकुलनाथ** की 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' नामक रचनाओं में मिलता है। इन वार्ताओं की भाषा बड़ी व्यवस्थित और चलती हुई है। 'वचनामृत' नाम से संकलित उनका एक और ग्रन्थ मिलता है। उसमें तुलसीदास जी का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

"सो तुलसीदास श्री गोकुल आए हते। सो ता दिन श्री रघुनाथ

जी महाराज को विवाह हतो। सो ठौर-ठौर आनन्द होय रह्यो हतो। तब तुलसीदास ने पूछी जो कहा है, ठौर-ठौर आनन्द दीसत है ? तब कोई व्रजवासी ने कह्यौ जानें नाहो जो रघुनाथ जी को विवाह है। तब तुलसीदास ने कहा जो कौन सो विवाह है श्री रघुनाथ जी को ? तब व्रजवासी ने कही श्री जानकी जी सों विवाह है। सो तुलसीदास श्री रघुनाथ जी और श्री जानकी को नाम सुनत ही विह्वल है गये।''

गोकुलनाथ जी के बाद वार्ता-साहित्य को व्यापकता प्रदान करने वाले **श्री हरिराय जी** (सन् १५६०–१६६६) हैं। इनके गद्य में कथा का प्रवाह स्वच्छ और स्पष्ट है। हरिराय जी ने व्रजभाषा-गद्य को चरम विकास की स्थिति तक पहुँचा दिया। सिद्धान्त-विश्लेषण और कथा-वार्ता में अलग-अलग रूप का गद्य उन्होंने दिया है।

राधावल्लभीय सम्प्रदाय के **महात्मा ध्रुवदास** ने व्रजभाषा-गद्य में 'सिद्धान्त विचार' ग्रन्थ की रचना की।

व्रजभाषा-गद्य की अन्य मौलिक रचनाओं में नाभादास-कृत भगवान् राम की दिनचर्या का ग्रन्थ 'अष्टयाम' (सन् १६००), वैकुंठमणि शुक्ल-कृत 'अगहन माहात्म्य' और 'वैशाख माहात्म्य' (सन् १६२५), काका वल्लभजी-कृत '५२ वचनामृत' (सन् १६५० से १७३०), ललितकिशोरी और ललितमोहिनी-कृत 'श्री स्वामीजी महाराज की वचनिका' (सन् १७५०), प्रियादास-कृत 'सेवक चरित्र' (सन् १७७६), हीरालाल-कृत 'आइने अकबरी की भाषा वचनिका' (सन् १७९५), लल्लूलाल-कृत 'राजनीति' (सन् १८०२) और 'माधोविलास' (सन् १८१७), माणिकलाल ओझा-कृत 'सोमवंशन की वंशावली' (सन् १८२८) और नवलसिंह-कृत 'महाभारत वार्तिका' (सन् १८४०) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें प्रियादास, लल्लूलाल और नवलसिंह का गद्य बड़ा ही समर्थ है।

व्रजभाषा-गद्य का टीका-साहित्य—यह अत्यन्त महत्त्व का है। इन टीकाओं में व्रजभाषा-गद्य के साहित्यिक रूप का दर्शन होता है, प्रमुख

टीकाओं के नाम इस प्रकार हैं—**गोपेश्वर**-कृत 'शिक्षापत्र की टीका' (सन् १६५०), **प्रेमदास**-कृत 'हित चौरासी की टीका' (सन् १७००), **हरिचरणदास**-कृत 'बिहारी सतसई की टीका' (सन् १७७७) और 'कविप्रिया की टीका' (सन् १७७८), अयोध्या के **महन्त रामचरण**-कृत 'रामायण सटीक' (सन् १७८४–१७८७), **जानकीप्रसाद**-कृत 'रामचन्द्रिका की टीका' (सन् १८१५), **प्रतापसाहि**-कृत 'रसराज की टीका' (सन् १८३६), **महाराज विश्वनाथसिंह**-कृत 'गीत रघुनन्दन की टीका' (सन् १८४४), **सरदार कवि**-कृत 'रसिकप्रिया' (सन् १८४६), 'सूर के दृष्टिकूट' (सन् १८४७) और 'कविप्रिया की टीका' (सन् १८५४) प्रसिद्ध हैं।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इसी प्रकार की टीकाओं के कारण व्रजभाषा के टीका-गद्य को 'अनगढ़' और 'लद्धड़' कहा है। लेकिन प्राप्त टीकाओं में से कई का गद्य बड़ा ही स्पष्ट और भाव-व्यंजक है। उदाहरणार्थ गोपेश्वर की हरिरामजी के संस्कृत-ग्रन्थ 'शिक्षापत्र' की टीका के गद्य का नमूना देखिए—

"भक्त के दुख को सहन नाहीं करि सकैं। ऐसे प्रभु वाही समय वा प्रतिबन्ध को निश्चय निवृत्त करैं। काहे तें जो आपुन सों कछु न बनै, तहाँ हरि ही रक्षक हैं। ऐसौ ही श्री महाप्रभुजी को वचनामृत है।"

'भाषा भूषण' के रचयिता **महाराज जसवन्तसिंह**, 'रस-रहस्य' के रचयिता **कुलपति मिश्र** (जिन्होंने केशव की रचना को दोषों में स्थान दिया) और **भिखारीदास** (जिनकी दृष्टि भाषा और तुकों पर गई) जैसे समीक्षकों ने स्वतन्त्र उद्भावनाएँ भी की हैं।

व्रजभाषा-गद्य में टीकाओं के अतिरिक्त अनुवादों का भी पर्याप्त भण्डार है। संस्कृत और फारसी दोनों के अनुवाद हुए हैं। फारसी से जो अनुवाद हुए हैं, वे उन्हीं ग्रन्थों के हैं, जिनका अनुवाद संस्कृत से फारसी में हुआ था। अनूदित ग्रन्थों के विषय धार्मिक, दार्शनिक, साहित्यिक, वैद्यक आदि हैं। अनुवादकों में सबसे पहला नाम नन्ददास का आता है। ये अष्टछाप के नन्ददास से भिन्न हैं। इन्होंने व्रजभाषा-

मिश्रित पश्चिमी हिन्दी में 'नासिकेतु पुराण' का अनुवाद किया। इसकी भाषा इस प्रकार है—

"अहो विप्रनंहि राजा जन्मेजय नासिकेतु पुराण ही कृतारथ हैं। जैसे कोई प्राणी एकान्तचित्त दै करि सुर में पढ़ै जो पारगामी होय, जैसे राजा जन्मेजय पार होत भये और सहस्र गऊ दियै कै फल होय।"

इसके अतिरिक्त चन्द्रसेन मिश्र-रचित वैद्यक ग्रन्थ 'माधव-निदान' का अनुवाद (सन् १६१२), दामोदरदास-कृत 'मार्कण्डेय पुराण' का अनुवाद (सन् १६७८), भगवानदास-कृत श्रीमद्भगवद्गीता का अनुवाद 'भाषामृत' (सन् १७७०), सूरत मिश्र-कृत 'वैताल पचीसी' का अनुवाद, (जिसके आधार पर आगे चलकर लल्लूलालजी ने खड़ी बोली में 'बैताल पचीसी' लिखी, सन् १७११), देवीचन्द-कृत 'हितोपदेश' का अनुवाद (सन् १७४०), मनोहरदास निरंजनी-कृत 'दर्शनी निर्णय' (सन् १८५६) आदि रचनाओं के नाम उल्लेखनीय हैं। जोधपुर के राजा यशवन्तसिंह द्वारा अनूदित 'प्रबोध चन्द्रोदय' भी ब्रजभाषा-गद्य की अमूल्य सम्पत्ति है। यों अनुवाद की दृष्टि से सभी प्रकार की रचनाएँ ब्रजभाषा-गद्य में मिलती हैं।

ब्रजभाषा-गद्य का एक रूप वह भी है, जो काव्य-संग्रहों के बीच-बीच में या कवियों द्वारा अपनी ही रचनाओं की व्याख्याओं के प्रसंग में व्यवहृत हुआ है। शुजाउद्दौला के दरबारी कवि श्रीहरिनाथ गुजराती के 'संग्रह कवित्त' (सन् १७६४), रामसनेही-सम्प्रदाय के संस्थापक स्वामी रामचरणदास के 'अणभौ विलास' (सन् १७८८), प्रतापसाहि के रीति-ग्रन्थ 'व्यंगार्थ कौमुदी' (सन् १८२५), रामराज के रीति-ग्रन्थ 'काव्य प्रभाकर' (सन् १८४७) तथा सरदार कवि के 'मानस रहस्य' (सन् १८४७) आदि ग्रन्थों में ऐसे गद्य का दर्शन होता है। इनमें हरिनाथ गुजराती के गद्य का रूप इस प्रकार है—

"एक मर्द ने एक चिरिया पकरी, वा चिरिया ने पूंछ्यो जो तू कोंमो पकरि ल्यायो अब मोकौं तू कहा करैगो। तब वाने कही, जो मैं

तो कौं मारि कै खाऊँगो।"

सारांश यह कि व्रजभाषा-गद्य नगण्य नहीं है। उसमें मौलिक, टीका, अनूदित आदि सभी प्रकार की विविध-विषय-विभूषित रचनाएं मिलती हैं। यह सत्य है कि व्रजभाषा-गद्य का उत्कर्ष धार्मिक रचनाओं में ही हुआ, परन्तु अन्य विषयों में भी भाषा का रूप निखरा हुआ मिल जाता है। आगे खोज होने पर और भी महत्त्व की रचनाएँ मिल सकती हैं और व्रजभाषा-गद्य की परम्परा पर प्रकाश पड़ सकता है। यदि उन्नीसवीं शताब्दी में खड़ी बोली को अपने अनुकूल परिस्थिति न मिली होती और साहित्यिक दृष्टि से व्रजभाषा का महत्त्व न घटा होता तो निश्चय ही व्रज-भाषा पद्य की भाँति गद्य के क्षेत्र में भी अबाध गति से आगे बढ़ी होती।

दक्खिनी हिन्दी-गद्य—राजस्थानी, मैथिली और व्रज की भाँति दक्खिनी हिन्दी-गद्य का भी बड़ा महत्त्व है। हिन्दी के शैशव-काल में विकसित व्रज और पंजाबी-मिश्रित इस गद्य को उर्दू-लेखकों ने अपने इतिहास में सम्मिलित किया है, लेकिन इसका सीधा सम्बन्ध हिन्दी-गद्य से है। दक्खिनी हिन्दी-गद्य के दो लेखक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—एक गुलबर्गा के ख्वाजा बन्देनवाज गेसू दराजमुहम्मद हुसेनी (सन् १३१८–१४२२) और दूसरे मुल्ला वजही (सन् १६०५–१६६० के लगभग)। प्रथम लेखक ने यद्यपि अपनी रचनाएँ फारसी में लिखी हैं तथापि 'तीन रिसाले', 'मीराजुल आशकीनी', 'हिदायतनामा' और 'रिसाला सेहवारा' दक्खिनी हिन्दी की पुस्तकें हैं। ये पुस्तकें फारसी से अनुवाद हैं और धर्म-प्रचारार्थ लिखी गई हैं।

दूसरे लेखक मौलाना वजही द्वारा लिखित 'सबरस' (१६३५) नामक रचना दक्खिनी हिन्दी-गद्य की बहुमूल्य कृति है। यह कथा-कृति है और रूपक शैली में लिखी गई है। उसका नमूना इस प्रकार है—

"एक शहर था, शहर का नाऊँ सीस्तान। इस सीस्तान के बादशाह का नाऊँ अक्ल। दीन व दुनिया का तमाम काम उससे चलता, उसके हुक्म बाज जर्रा कई नई हिलता।"

इंशाअल्लाखाँ की 'रानी केतकी की कहानी' पर इस दक्खिनी हिन्दी-गद्य का प्रभाव देखा जा सकता है। हमें तो ऐसा लगता है कि जैसे भक्ति का उदय दक्षिण में हुआ और उसका प्रसार उत्तर में, वैसे ही खड़ी बोली-गद्य का उदय भी दक्षिण में हुआ और उसका विकसित रूप उत्तर में सामने आया।

इसके अतिरिक्त फोर्ट विलियम कॉलिज की स्थापना होने पर उर्दू में जो फारसी साहित्य अनूदित हुआ उसने भी खड़ी बोली हिन्दी-गद्य की भाषा और शैली को प्रभावित किया।

खड़ी बोली-गद्य—खड़ी बोली-गद्य से पूर्व राजस्थानी, मैथिली, व्रज और दक्खिनी के गद्य पर विचार हो चुका है। हम यह भी देख चुके हैं कि हिन्दी की इन सभी पूर्ववर्ती भाषाओं के गद्य में अनेक विषयों पर महत्त्वपूर्ण रचनाएँ मिलती हैं। इस दृष्टि से यह स्वाभाविक है कि खड़ी बोली-गद्य पर उनका ऋण स्वीकार किया जाय। लेकिन अंग्रेजों और उनके श्रद्धालुओं का कहना है कि खड़ी बोली-गद्य का जन्म फोर्ट विलियम कॉलिज में हुआ। जार्ज ग्रियर्सन, आर० डब्ल्यू० फ्रेजर, नलिनीमोहन सान्याल आदि इसी मत के मानने वाले हैं और इनका कहना है कि लल्लूलाल और सदल मिश्र, जो इस कॉलिज से सम्बद्ध थे, खड़ी बोली के जन्मदाताओं में हैं। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी, और डॉक्टर लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय आदि इस मत को भ्रामक मानते हैं। इन विद्वानों की दृष्टि में खड़ी बोली-गद्य का उदय सहसा फोर्ट विलियम कॉलिज खुल जाने से ही नहीं हो गया, उसकी परम्परा बहुत पहले की है। पद्य में तो खड़ी बोली अपभ्रंश-काल से ही अपनी झलक दिखलाने लगी थी और हिंदी के अमीर खुसरो, रहीम, ताज, आलम, भूषण, पद्माकर, ग्वाल-जैसे प्रसिद्ध हिन्दू-मुसलमान-कवियों की रचनाओं में सैकड़ों पंक्तियाँ खड़ी बोली की मिलती हैं। पद्य में जब यह स्थिति है तो गद्य में भी उसका प्रभाव अवश्य कुछ-न-कुछ होना चाहिए। यह स्वाभाविक है।

खड़ी बोली-गद्य की परम्परा का सूत्रपात गंग कवि-कृत 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' से माना जाता रहा है, जिसका समय सोलहवीं शताब्दी है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नामक ग्रंथ में इसे ही महत्त्व दिया है, लेकिन आधुनिक शोध से इस ग्रंथ की प्रामाणिकता संदिग्ध हो गई है। हम इस ग्रंथ की भाषा को अधिक-से-अधिक व्रज से पनपती खड़ी बोली के उदाहरणार्थ ले सकते हैं। उस भाषा का स्वरूप यह है—

"इतना सुनके पात साहिजी श्री अकबर साहिजी आद सेर सोना नरहरदास चारन को दिया। इनके डेढ़ सेर सोना हो गया। रास बंचना पूरन भया। आम खास बरखास हुआ।"

खड़ी बोली-गद्य का सबसे पहला प्रामाणिक ग्रंथ सन् १७४१ में लिखा गया पटियाला के रामप्रसाद निरंजनी का 'भाषा योग वाशिष्ठ' है। इस ग्रंथ का गद्य इस प्रकार का है—

"हे भगवान ! आप सब तत्वों और सब शास्त्रों के जानने हारे हो, मेरे एक सन्देह को दूर करो। मोक्ष का कारण कर्म है कि ज्ञान अथवा दोनों हैं, समझायके कहो।"

दूसरा एक ग्रंथ सन् १७६१ का पं० दौलतराम जैन-कृत 'पद्म पुराण' का अनुवाद है। इसका गद्य उतना परिमार्जित नहीं है जितना कि 'भाषा योग वशिष्ठ' का है।

आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अप्रैल सन् १९४० के 'विशाल भारत' में २०० वर्ष पुराने खड़ी बोली के कुछ पत्रों के नमूने छपाये थे, जो लगभग उसी काल के हैं, जिस काल का कि रामप्रसाद निरंजनी का 'भाषा योग वाशिष्ठ' है। उनसे भी यह स्पष्ट है कि खड़ी बोली-गद्य अंग्रेजों की प्रेरणा से लल्लूलाल आदि द्वारा निर्मित नहीं हुआ।

इसके साथ ही **मुंशी सदासुखलाल 'नियाज' और इंशा अल्ला खाँ** दो ऐसे लेखक मिलते हैं, जिनमें से एक ने 'योग वाशिष्ठ' की संस्कृत-गर्भित पाण्डित्यपूर्ण भाषा की परम्परा को स्वतंत्र रूप से विकसित

किया और दूसरे ने बोल-चाल की ऐसी चलती हुई भाषा का आदर्श अपने सामने रखा, जिसमें न तो अरबी-फारसी के शब्दों की भरमार थी और न संस्कृत के शब्दों का आग्रह ही। उसमें 'हिन्दी छुट और किसी बोली का पुट' नहीं था। यह दक्खिनी-गद्य की परम्परा का उत्तर में विकसित खड़ी बोली का रूप था। मुंशी सदासुखलाल (सन् १७४६–१८२४) ने 'विष्णु पुराण' का एक अंश लेकर खड़ी बोली में 'सुख सागर' नाम से लिखा, जिसकी भाषा का स्वरूप इस प्रकार है—

"विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका जो सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिए। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कहके लोगों को बहकाइए और सत्य को छिपाइए।"

सदासुखलाल के बाद रामचरनदास नामक एक लेखक (सन् १७८७) का एक गद्य-ग्रन्थ और मिला है, जिसके गद्य का नमूना यह है—

"पुनि रामनाम कैसो है, 'हेतु कृशानु भानु हिमकर को' जहाँ एक शब्द में दुइ-दुइ तीन-तीन अर्थ होंइ, तीन चार पाँच छै सात इत्यादिक अर्थ होंइ आशय इहे एक शब्द में ताको श्लेषालंकार कही पुनि ध्वन्यात्मक काव्य कही यह चौपाई में अनेक हेतु अनेक-अनेक ध्वनि अनेक आशय हैं।"

इंशा अल्लाखाँ ने 'अपनी रानी केतकी की कहानी' द्वारा न केवल बोल-चाल की ठेठ भाषा का ही रूप खड़ा किया वरन् विषय-वस्तु की दृष्टि से नवीनता की ओर संकेत भी किया; क्योंकि रामप्रसाद निरंजनी, दौलतराम और सदासुखलाल में पौराणिक धार्मिक तत्त्व प्रधान थे, जब कि इंशा अल्ला ने कथा-तत्त्व को ग्रहण किया है। साथ ही उसमें चुलबुलापन, मुहावरेदानी और दृश्य-चित्रण के कारण सजीवता आ गई है। इंशा की भाषा की बानगी देखिये—

"कोई क्या कह सके, जितने घाट दोनों राज की नदियों में थे

पक्के चाँदी के थक्के से होकर लोगों को हक्का बक्का कर रहे थे। निवाड़ी, फूलनी, बजरी, लचकी, मोरपंखी, श्याम सुन्दर, राम सुन्दर और जितनी ढब की नावें थीं सुनहरी रुपहरी, किसी किसी सौ लचके खातियाँ, आतियाँ, जातियाँ, ठहरातियाँ, फिरतियाँ थीं।"

रामप्रसाद निरंजनी से लेकर इंशाअल्लाखाँ तक हिन्दी की शास्त्रीय और चलती हुई दोनों प्रकार की भाषा-शैलियों का जो स्वतंत्र विकास हुआ है वह हिन्दी की दीर्घकालीन परम्परा का सुपरिणाम है, अंग्रेजों की प्रेरणा का फल नहीं।

फोर्ट विलियम कॉलिज और हिन्दी—अंग्रेजों की प्रेरणा के फलस्वरूप हिन्दी-गद्य का जो कार्य हुआ वह फोर्ट विलियम कॉलिज की स्थापना होने पर हुआ। इस कॉलिज में लल्लूलाल (सन् १७६३–१८२५) और सदल मिश्र (१७६८–१८४७) दो हिन्दी के विद्वानों ने जॉन गिल क्राइस्ट साहब की प्रेरणा से कम्पनी-सरकार के साहबों को 'हिन्दी' की शिक्षा देने के लिए पुस्तकों की रचना की। इनमें से लल्लूलाल ने व्रजभाषा का प्रथम व्याकरण लिखा और 'प्रेम सागर' 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पच्चीसी'. 'शकुन्तला नाटक', 'सभाविलास', 'राजनीति', 'माधोनल', 'लाल चन्द्रिका' आदि कई अन्य पुस्तकें लिखीं; पर उन सबमें 'प्रेम सागर' (सन् १८१०) प्रमुख है। हिन्दी-गद्य के विकास में इसका ऐतिहासिक महत्त्व है। लल्लूलाल फोर्ट विलियम कॉलिज में 'भाषा मुंशी' थे। वे आगरा के रहने वाले थे इस कारण उनकी भाषा पर व्रजभाषा का पर्याप्त प्रभाव है, तुकान्त शब्द भी सर्वत्र मिलते हैं। 'प्रेम सागर' की भाषा का उदाहरण यह है—

"इतना कह महादेवजी गिरजा को साथ ले गंगतीर पर जाय। नीर में न्हाय-न्हिलाय, अति लाड़-प्यार से लगे पार्वती जी को वस्त्र-आभूषण पहिराने। नितान्त अति आनन्द में मग्न हो डमरू बजाय-बजाय, ताण्डव नाच-नाच संगीत-शास्त्र की रीति से गाय-गाय लगे रिझाने।"

सदल मिश्र ने खड़ी बोली में 'नासिकेतोपाख्यान' (सन् १८०३) नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा। 'राम चरित्र' इनका एक दूसरा ग्रन्थ है, पर इनकी महत्त्व की 'रचना नासिकेतोपाख्यान' ही है। इनका गद्य लल्लूलाल की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ और परिष्कृत है, परन्तु उसमें पण्डिताऊपन आ गया है। मिश्र जी आरा (बिहार) के निवासी थे, अत: उनकी भाषा पर पूर्वी प्रभाव स्पष्ट है। 'नासिकेतोपाख्यान' की भाषा का एक अंश यहाँ दिया जाता है—

"यह सुनते ही राजा चिहुँक उठे ! क्षण एक तो ईश्वर का ध्यान किया, फिर बोले कि महारानी ! शीघ्र कहो, क्या ऐसा अनर्थ हुआ कि जिससे इतनी घबरा रही हो ? मैंने जीवन-दान दिया। इसका कारण कहो। हमारे जीते-जी तुम्हारी यह अवस्था होय।"

गंगाप्रसाद शुक्ल नामक एक और विद्वान् भी फोर्ट विलियम कॉलिज से सम्बद्ध थे, जिन्होंने सन् १८२६ के लगभग एक 'हिन्दी (हिन्दुई) इंगलिश डिक्शनरी' लिखनी आरम्भ की थी, पर वह पूरी न हो सकी।

सारांश यह है कि फोर्ट विलियम कॉलिज और उससे स्वतन्त्र दो धाराओं में हिन्दी-गद्य का विकास होने लगा। ये दोनों धाराएँ बराबर चलती रही हैं। एक में शासकों का अपना हित रहा है और दूसरी में जन-भावना ने प्रेरक शक्ति का कार्य किया है।

ईसाई-धर्म-प्रचारक और हिन्दी—खड़ी बोली-गद्य के विकास में आगे चलकर और भी कितनी ही शक्तियाँ जुटीं। इनमें सबसे पहली शक्ति थी ईसाई-धर्म-प्रचारको की। इन धर्म-प्रचारकों ने अपने धर्म के प्रचार के लिए अपनी पुस्तकें प्रकाशित कीं और हिन्दी के विकास में सहायता पहुँचाई। सन् १७९३ ई० में कैरे महोदय ने कलकत्ता के निकट श्री रामपुर में अपना केन्द्र स्थापित किया। इसके बाद १८०९ ई० में पटना के पास एक मिशन और १८१० ई० में आगरा में बैप्टिस्ट मिशन का जन्म हुआ। १८१४ ई० में आगरा में दो और मिशन खुले। इसके बाद तो बनारस, लखनऊ, कानपुर, अलीगढ़, सहारनपुर, दिल्ली,

अम्बाला, जयपुर, नागपुर आदि भारत के सभी महत्त्वपूर्ण नगरों में ईसाई-धर्म-प्रचारकों का दल फैल गया। इन लोगों ने अपने धर्म की बातें जनता की भाषा में ही जनता के सामने रखीं।

सन् १८०६ में हेनरी मार्टिन ने 'न्यू टेस्टामेण्ट' (New Testament) (नये धर्म नियम) का अनुवाद उर्दू में किया और १८१७ में उसका देवनागरी रूपान्तर प्रकाशित किया। उसके बाद विलियम बाउले (William Bowley) विलियम येट्स (William Yets) आदि ने भी उक्त पुस्तक के रूपान्तर करने का प्रयत्न किया। बाइबिल के अतिरिक्त जे० टी० टाम्सन-कृत 'दाऊद के गीत' (सन् १८३६), जान क्योर-कृत 'ईश्वरोक्त विचार-धारा' (सन् १८४६) 'सन्त मत निरूपण' (सन् १८४८), 'पॉल का चरित्र' (सन् १८५८), 'वेदान्त विचार' (सन् १८५३) आदि धर्म-पुस्तकें उल्लेखनीय हैं। ईसाई धर्म के इन प्रचारकों ने जिस भाषा का प्रयोग किया वह सदासुखलाल और लल्लूलाल की स्वाभाविक हिन्दी थी, अरबी-फारसी, शब्दों की भरमार वाली कृत्रिम हिन्दी नहीं। इससे पता चलता है कि जनता में सदासुखलाल वाली हिन्दी ही प्रचलित थी। इन्होंने हिन्दी के अतिरिक्त, व्रज, अवधी, बघेली, कन्नौजी आदि जनपदीय भाषाओं में लाखों की संख्या में पुस्तकें छपाकर वितरित कीं। यद्यपि उनकी भाषा में साहित्यिकता नहीं है, फिर भी उससे हिन्दी के विकास में भारी सहायता मिली। इनकी भाषा का नमूना देखिए—

"हे तुम सब जो परिश्रम करते हो और बोझ वाले होते हो मेरे पास आओ और मैं तुम्हें सुस्तावूंगा। अपनेयों पर मेरा जुआ लेवो और मुझसे मिलो जिससे मैं नरम और मन में लघु हूँ और तुम अपने जीवों में विश्राम पावोगे। क्योंकि मेरा जूआ सहज और मेरा भार हलका है।"

समाज-सुधार-आन्दोलन और हिन्दी गद्य—ईसाई-धर्म-प्रचारकों के विरोध में भारत में कुछ समाज-सुधार-आन्दोलनों का जन्म हुआ,

जिन्होंने भारतीय संस्कृति के मूल रूप की रक्षा की और ग्रन्थ विश्वासों पर प्रहार किया। इन आन्दोलनों में ब्रह्मसमाज, और आर्यसमाज ने हिन्दी-गद्य को बड़ा बल दिया। पहले आन्दोलन के प्रवर्त्तक राजा राममोहनराय थे और दूसरे के महर्षि दयानन्द। राजा राममोहनराय ने 'बंगदूत' (१८२६) पत्र द्वारा हिन्दी-पत्रकार-कला की तो सेवा की ही, बंगाली होते हुए हिन्दी का समर्थन भी किया। उनकी भाषा का रूप देखिए—

"जो सब ब्राह्मण सांग वेद अध्ययन नहीं करते सो सब व्रात्य हैं, यह प्रमाण करने की इच्छा करके ब्राह्मण धर्म-परायण श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री जी ने जो पत्र सांग-वेदाध्ययन-हीन अनेक इस देश के ब्राह्मणों के समीप पठाया है, उसमें देखा जो उन्होंने लिखा है—वेदाध्ययन-हीन मनुष्यों को स्वर्ग और मोक्ष होने शक्ता नहीं।"

बंगला से प्रभावित होने पर भी यह भाषा शास्त्रीय या विद्वानों-जैसी है।

आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द ने तो हिन्दी को आर्य भाषा घोषित करके बड़े ही महत्त्व का कार्य किया है। वे गुजराती होते हुए भी व्यापक दृष्टि रखने वाले थे। एक प्रकार से हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के रूप में सबसे पहले उन्होंने ही देखा। दयानन्द ने संस्कृत-परक हिन्दी की शैली को प्रमुखता अवश्य दी, परन्तु उसके विषय और रूप प्रसंगानुकूल बदलते रहे। 'सत्यार्थ प्रकाश' की भाषा का नमूना इस प्रकार है—

"जो संग्रामों में एक दूसरे को हनन करने की इच्छा करते हुए राजा लोग जितना अपना सामर्थ्य हो बिना डर पीठ दिखा युद्ध करते हैं वे सुख को प्राप्त होते हैं। इससे विमुख कभी न हो किन्तु कभी-कभी शत्रु को जीतने के लिए उनके सामने से छिप जाना उचित है क्योंकि जिस प्रकार से शत्रु को जीत सके वैसे काम करें जैसा सिंह क्रोध से सामने आकर शस्त्राग्नि में शीघ्र भस्म हो जाता है वैसे मूर्खता से नष्ट

भ्रष्ट न हो जावें।"

स्वामी जी की भाषा हिन्दी की सांस्कृतिक परम्परा के अनुकूल है। ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज ने एक ओर ईसाई धर्म के प्रसार का मार्ग कुछ सीमा तक अवरुद्ध किया तो दूसरी ओर हिन्दी भाषा के रूप को विकृत होने से बचाया।

शिक्षा-संस्थाएँ और हिन्दी-गद्य—उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में शिक्षा-संस्थाओं का जन्म भी एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इस प्रकार कम्पनी-सरकार द्वारा शिक्षा की व्यवस्था होने से जो पाठ्य-पुस्तकें बनीं उनका गद्य अवश्य ही विकसित रूप में सामने आया। मुद्रण-कला, पाश्चात्य संस्कृति, रेल, तार और डाक आदि की सुविधा तथा कम्पनी की शासन-सुधार और न्याय की नीति से जो नव-चेतना भारतवासियों में जग गई थी वह शिक्षा के द्वारा और भी गहरी हो गई। सन् १८२३ में भारतीयों को शिक्षा देने की योजना बनाई गई। परिणामस्वरूप देश में शिक्षा-संस्थाओं और बुक-सोसायटियों की स्थापना हुई। उस दृष्टि से कलकत्ता बुक सोसायटी और आगरा बुक सोसायटी ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया। सन् १८२३ में ही आगरा कॉलिज की स्थापना हुई। दिल्ली, बरेली आदि बड़े-बड़े शहरों में कॉलिज तथा नार्मल स्कूल भी खुले। यद्यपि मैकाले ने (१८३५) में अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाने पर जोर देकर भारत की प्राचीन भाषाओं और वर्तमान भाषाओं की उपेक्षा का प्रयत्न किया था, पर सर चार्ल्स वुड-जैसे शिक्षा-शास्त्रियों ने ग्राम-पाठशालाओं की योजनाओं द्वारा देशी भाषाओं में शिक्षा-योजना को लागू किया। परिणामस्वरूप इन भाषाओं में पाठ्य-पुस्तकों का प्रणयन प्रारंभ हो गया। इन पुस्तकों में राजनीति, अर्थशास्त्र, विज्ञान, कथा, दस्तकारी, स्त्री शिक्षा, इतिहास, भूगोल आदि सभी विषयों की पुस्तकें रहती थीं। इन पाठ्य-पुस्तकों द्वारा हिन्दी-गद्य का अभूतपूर्व विकास हुआ। साथ ही इनके द्वारा सन् १८०३ से लेकर सन् १८५८ तक हिन्दी-गद्य की परम्परा भी

अविच्छिन्न रही।

समाचार-पत्र और खड़ी बोली-गद्य—खड़ी बोली-गद्य के उत्थान में समाचार-पत्रों का भी बड़ा योग है। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही इस कला का विकास हुआ। हिन्दी का सबसे पहला पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' ३० मई १८२६ को कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। इसके संचालक थे पं० जुगल किशोर शुक्ल। इसके बाद 'बंगदूत' (सन् १८२९), 'प्रजा मित्र' (सन् १८३४), 'बनारस अखबार' (सन् १८४४), 'सुधाकर' (सन् १८५४), 'समाचार सुधावर्षण' (सन् १८५४), 'प्रजा-हितैषी' (सन् १८५५) आदि अनेक पत्र प्रकाशित हुए। इनमें दैनिक पत्र केवल 'समाचार सुधावर्षण' था और वह भी द्विभाषीय (बंगला-हिन्दी) था। इसकी भाषा के उदाहरण के लिए ये पंक्तियाँ देखिये—

"यिह सत्य हम लोग अपनी आँखों से प्रत्यक्ष महाजनों की कोठियों में देखते हैं कि एक की लिखी हुई चिट्ठी दूसरा जल्दी बाँच सकता नहीं। चार-पाँच आदमी लोग इकट्ठा बैठ के ममा, टटा, धधा, डडा कहिके फेर 'मिट्टी का घड़ा' बोल के निश्चय करते हैं। क्या दुःख की बात है।"

यह गद्य भले ही अपरिमार्जित और अपरिपक्व हो, किन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जनता इसी भाषा को अपना समझती थी।

हिन्दी-उर्दू का संघर्ष—सन् १८३६ तक कम्पनी-सरकार के दफ्तरों की भाषा फारसी थी। उसके बाद देशी भाषाओं को भी दफ्तरों की भाषा बनाया गया। हिन्दी-प्रदेश के मुसलमानों को यह बात पसन्द नहीं आई कि हिन्दी उर्दू के समकक्ष रहकर आगे बढ़े। परिणामस्वरूप सन् १८३७ में उन्होंने 'नागरी' का बहिष्कार कर दिया। सर सैयद अहमदखाँ ने इस कार्य में विशेष रूप से भाग लिया। गार्सां द तासी-जैसे विद्वान् हिन्दी का महत्त्व समझते हुए भी केवल धार्मिक आधार पर उर्दू का समर्थन करने लगे। जान बीम्स ने भी उर्दू का पक्ष लेकर हिन्दी को रूढ़िवादी बताया। लेकिन एफ० एस० ग्राउज ने हिन्दी का पक्ष लेकर उर्दू का विरोध किया और 'प्रेम सागर' की भाषा-शैली को पसन्द किया। ऐसे ही

समय में राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द (सन् १८२९–१८९५) का उदय हुआ।

राजा साहब हिन्दी के पक्षपाती थे और शिक्षा-विभाग में उच्च अधिकारी थे। जब उन्होंने देखा कि हिन्दी का विरोध हो रहा है तो उन्होंने हिन्दी में अरबी-फारसी-शब्दों के समावेश को उचित ठहराया। वस्तुतः वे नागरी लिपि में सरल हिन्दुस्तानी का प्रचार करके अंग्रेज अधिकारियों को प्रसन्न करना चाहते थे। जो लोग शुद्ध संस्कृत तत्सम शब्द-प्रधान हिन्दी के पक्षपाती थे, उनको राजा साहब ने चेतावनी दी थी—"**ऐसी शुद्धि चाहने वालों को हम इस बात पर यकीन दिला सकते हैं कि जब तक कचहरियों में फारसी हरफ जारी हैं, इस देश में संस्कृत-शब्दों के जारी करने की कोशिश बेकार होगी।**" अपनी इसी विचार-धारा के कारण उन्होंने 'आम फहम' और 'खास पसन्द' भाषा का प्रचार अपना उद्देश्य बनाया, जिसमें अरबी-फारसी ही नहीं, अंग्रेजी के शब्द भी रहते थे। राजा साहब ने 'आलसियों का रोड़ा', 'वर्णमाला', 'स्वयं बोध उर्दू', 'वामा मनरंजन', 'राजा भोज का सपना', 'भूगोल हस्तामलक', 'इतिहास तिमिर नाशक', 'सिक्खों का उदय और अस्त', 'मानवधर्म सार' आदि अनेक पुस्तकें लिखीं। पहले वे हिन्दी की स्वाभाविक शैली को ही अपनाते थे, लेकिन बाद में चलकर वे उर्दू-मिश्रित भाषा के ही समर्थक हो गए। सरकार के कृपा-पात्र बने रहने के कारण ही ऐसा हुआ। 'इतिहास तिमिर नाशक' में उनकी भाषा बिलकुल उर्दू है—

"**तुग़लक का भाई मसऊद खाँ निहायत हसीन था बग़ावत का शुबहा हुआ पूछने पर उक़ूबत और सियासत के डर से झूठा इकरार कर दिया बहुतेरे उक़ूबत और सियासत से मौत को बिहतर समझते हैं बादशाह ने भाई का सिर कटवा डाला और लाश को तीन दिन तक उसी जगह पड़ा रखा।**"

अंतिम काल में तो उनकी भाषा अरबी-फारसी से ऐसी बोझिल हो

गई कि उसमें हिन्दीपन ही न रहा। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने नागरी लिपि का पक्ष अवश्य लिया, पर खड़ी बोली-गद्य का समर्थन न करके वे उर्दू के फेशनेबुल रूप पर मुग्ध हो गए। सर सैयद अहमदखां और गार्सा द तासी-जैसे उर्दू-समर्थकों को उनके इस दृष्टिकोण से बड़ा बल मिला।

राजा लक्ष्मणसिंह ने उनका विरोध करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि बिना अरबी-फारसी-शब्दों के बाहुल्य के भी भाषा में लोच और सौंदर्य आ सकता है, भाव-व्यंजकता बनी रह सकती है। उन्होंने 'शकुन्तला' और 'मेघदूत' के अनुवादों से राजा शिवप्रसाद को मुंहतोड़ जवाब दिया। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा ठेठ और सरल होते हुए भी चिरकाल से व्यवहृत संस्कृत के रससिद्ध शब्द लिये हुए है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' से उनकी भाषा का एक उदाहरण दिया जाता है—

"अनुसूया—(हौले प्रियंवदा से) सखी ! मैं भी इसी सोच-विचार में हूँ। अब इससे कुछ पूछूँगी। (प्रगट) महात्मा ! तुम्हारे मधुर वचनों के विश्वास में आकर मेरा जी यह पूछने को चाहता है कि तुम किस राजवंश के भूषण हो और किस देश की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़ यहां पधारे हो।"

वस्तुतः राजा लक्ष्मणसिंह और राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद एक-दूसरे से नितान्त भिन्न दृष्टिकोण रखते थे। राजा लक्ष्मणसिंह ने 'रघुवंश' की भूमिका में स्पष्ट कहा है कि हमारे मत में हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी-न्यारी हैं। उन्होंने हिन्दी उसी भाषा को माना है, जिसमें संस्कृत के शब्द अधिक हों। संभवतः इसीलिए उन्होंने अपनी रचनाओं में एक भी अरबी-फारसी शब्द नहीं आने दिया।

इन दो राजाओं के कारण हिन्दी-उर्दू का पारस्परिक विरोध बढ़ा, और जब अंग्रेजों की तरफ से उर्दू का पलड़ा भारी होने लगा तो कुछ अहिंदी भाषा-भाषी हिन्दी का पक्ष लेकर आगे आये। राजा राममोहनराय

और स्वामी दयानन्द का उल्लेख पहले हो चुका है। इन दोनों ने समाज-सुधार-आन्दोलन के प्रसंग में हिन्दी का पक्ष लिया था। शिक्षा-प्रचार की दृष्टि से बाबू नवीनचन्द्र राय और पं० श्रद्धाराम फिल्लौरी ने पंजाब में हिन्दी का प्रचार बड़ी लगन से किया। बाबू नवीनचन्द्र राय शिक्षा-विभाग में थे। उन्होंने 'ज्ञान-प्रदायिनी पत्रिका' निकाली, जिसमें उनके शिक्षा-सम्बन्धी लेख रहते थे। फिल्लौरी तो घूम-घूमकर हिन्दी के पक्ष का समर्थन करते थे। यह वह समय था जब कि पंजाब में उर्दू का प्रचलन हुआ था। इन दोनों की सेवाओं से पंजाब में हिन्दी की रक्षा हुई।

फ्रेडरिक पिन्काट नाम के एक अंग्रेज ने भी हिन्दी की बड़ी सेवा की। इंग्लैंड में बैठे-बैठे ही उन्होंने हिन्दी-उर्दू का ज्ञान प्राप्त किया था; पर वे मन से हिन्दी के समर्थक थे। वे इंग्लैंड के निवासियों को हिन्दी के लेखकों का परिचय देने का काम करते थे और यहाँ के हिन्दी-पत्रों के उद्धरण अपने लेखों में देते थे। इस प्रकार अंग्रेज होते हुए भी इन्होंने उस काल में हिन्दी का पक्ष लिया जब कि नीति की दृष्टि से वैसा करना बड़े साहस का काम था।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द और राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा गृहीत हिन्दी-गद्य की अरबी-फारसी-शब्द-प्रधान शैली और संस्कृत-शब्द-प्रधान शैली का संघर्ष उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अत्यन्त तीव्र हो उठा। स्वामी दयानन्द के आर्यसमाज (सन् १८७५ में स्थापित)-आन्दोलन ने हिन्दू-धर्म के विरोधी ईसाई और मुसलमान धर्मों के विरुद्ध जो आन्दोलन छेड़ा उसमें हिन्दी का प्रयोग एक शस्त्र के रूप में किया। इस सबका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी का स्वाभाविक विकास अवरुद्ध होता दिखाई दिया। लेकिन सौभाग्य से भारतेन्दु का उदय (सन् १८५०–१८८५) हो गया; जिसके कारण हिन्दी-भाषा के क्षेत्र में मची हुई गड़बड़ी दूर हो गई। भारतेन्दु ने भाषा के क्षेत्र में मध्यम मार्ग का अनुसरण किया। उन्होंने न तो अरबी-फारसी के शब्दों से द्वेष किया, और न आर्यसमाज और बंगला-अनुवादों के

प्रभाव मे आये संस्कृत-शब्दों से मोह। उन्हें तो गति और अभिव्यक्ति की क्षमता की दृष्टि से जो शब्द उपयुक्त जँचे, वे उन्होंने ग्रहण कर लिये। उदाहरण के लिए 'म्यूनिसिपैलटी', 'हाईकोर्ट', 'कलक्टर', 'लार्ड', 'वायसराय', 'जज', 'कोट', 'पेण्ट', 'बूट', 'टाई', 'स्टेशन', 'पोस्टमैन', 'एडीटर'-जैसे अंग्रेजी के जन-प्रचलित शब्दों को उन्होंने बिना झिझक के अपना लिया। नाटक, निबन्ध, उपन्यास, आलोचना, समाचार-पत्र आदि साहित्यिक विभिन्न विषयों के अनुकूल उनकी भाषा कहीं गम्भीर, कहीं चलती हुई, कहीं हास्य-व्यंगपूर्ण और कहीं लोक-भाषा के निकट है। वस्तुतः भारतेन्दु ने साहित्य की प्रत्येक विधा को जन्म देकर हिन्दी को समृद्ध किया। यह ठीक है कि उनकी भाषा में व्याकरण के दोष हैं, अशुद्ध प्रयोग हैं, प्रान्तीय शब्द हैं; पर उनकी भाषा प्रत्येक विषय को प्रकट करने में सशक्त है! यही उनका ध्येय भी था। वैसे उनकी साहित्यिक टकसाली भाषा का रूप यह है—

"प्यारे रात छोटी है और स्वांग बहुत हैं। जीना थोड़ा और उत्साह बड़ा। हाय, मुझ सी मोह में डूबी को कहीं ठिकाना नहीं। रात-दिन रोते-रोते ही बीतते हैं। कोई बात पूछने वाला नहीं क्योंकि संसार में जी कोई नहीं देखता सब ऊपर ही की बात देखते हैं। हाय! मैं तो अपने पराये सबसे बुरी बनकर बेकाम हो गई। सबको छोड़कर तुम्हारा आसरा पकड़ा था सो तुमने यह गति की।"

भारतेन्दु युगीन लेखक—भारतेन्दु बाबू केवल व्यक्ति नहीं अपितु संस्था थे। उन्होंने न जाने साहित्य की सेवा में कितना श्रम किया होगा। साहित्य-सृजन के अतिरिक्त नवीन लेखकों को प्रोत्साहन देने और उनसे साहित्य-सेवा कराने का पुण्य कार्य भी उन्होंने किया। परिणामस्वरूप उनके जीवन-काल में ही लेखकों का एक ऐसा मण्डल तैयार हुआ जिसने उनकी मान्यताओं के अनुकूल साहित्य-सेवा का वह आदर्श प्रस्तुत किया कि हिन्दी धन्य हो उठी। उनके मण्डल के प्रमुख लेखक थे सर्वश्री प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, ठाकुर जगमोहनसिंह, उपाध्याय

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' आदि। इन सभी लेखकों ने हिन्दी की परम्परागत भाषा-शैली को अपनाया और गद्य को विविधता दी। यद्यपि भारतेन्दु ही इनके प्रेरणा-स्रोत थे तथापि इन सबने अपने-अपने ढंग से अपनी शैली का विकास किया।

प्रतापनारायण मिश्र (१८५६-१८९४)—इनकी भाषा के आदर्श भारतेन्दु ही थे, पर उनकी भाषा भारतेन्दु की अपेक्षा अधिक चलती हुई है। उन्होंने अपनी रचनाओं को सर्वसाधारण को दृष्टि में रखकर लिखा है, अतः उसमें ग्रामीण मुहावरों और कहावतों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलता है। ये पाण्डित्य-प्रदर्शन के प्रेमी न थे। वे व्यंग्य-विनोद द्वारा पाठकों का मनोरंजन करना चाहते थे। उनका फक्कड़पन उनके निबंधों और 'ब्राह्मण' मासिक पत्र की टिप्पणियों में झलकता है। इनकी भाषा का रूप देखिये—

"इधर आपने जब से स्कूल में पाँव रक्खा तभी से विलायती वस्तुओं के व्यवहार की लत डालने से खर्चा बढ़ा रखा है। ये लेक्चर देने में चाहे जैसी सुन लीजिए पर बर्ताव देखिए तो पूरा सात समुद्र के पार पाइएगा। इस पर भी ऐसे लोगों की संख्या इस देश में अब बहुत नहीं है जो धाए-धूपे बिना अपना तथा अपने कुटुम्ब का पालन कर सकते हों।"

बालकृष्ण भट्ट (१८४४-१९१४) भारतेन्दु युग के दूसरे महारथी थे। 'हिन्दी प्रदीप' के सम्पादक के नाते वे अंग्रेजी और उर्दू जानने वालों में हिन्दी-प्रचार करना चाहते थे। व्यंग्य उनकी भाषा का भी प्राण है, पर उनमें गंभीरता और मननशीलता मिश्र जी की अपेक्षा अधिक है। विभिन्न विषयों पर मनोरंजक शैली में उन्होंने अत्यन्त सुन्दर निबन्ध लिखे हैं। मुहावरे और लोकोक्तियों का प्रयोग इन्होंने भी खूब किया है, लेकिन व्याकरण-दोष और पूर्वी प्रयोग इनमें भी हैं। यह उनका दोष नहीं, उस युग की ही विशेषता है। उनकी शैली कहीं संस्कृत-प्रधान है, कहीं उर्दू की ओर झुकी हुई; और कहीं विदेशी शब्दों

को लेकर चलने वाली। इनकी सामान्य भाषा का नमूना देखिये—

"सभ्यता है क्या ? यही कि सभ्य जाति के एक-एक मनुष्य आबाल-वृद्ध-वनिता सबों में सभ्यता के लक्षण पाये जायें। जिसमें आधे या तिहाई सभ्य हैं वह जाति अर्द्ध शिक्षित कहलाती है। कौमी तरक्की भी अलग-अलग एक-एक आदमी के परिश्रम, योग्यता, सुचाल और सौजन्य का मानो टोटल है। उसी तरह कौम की तनज्जुली कौम के एक-एक आदमी की सुस्ती, कमीनापन, नीची प्रकृति, स्वार्थपरता भाँति-भाँति की बुराइयों का ग्रेंड टोटल है।"

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (१८५५-१९२३) की भाषा के दो रूप हैं। नाटकों में उर्दू-मिश्रित और 'आनन्द कादम्बिनी' पत्रिका में संस्कृत-मिश्रित। उनकी भाषा में सजावट और कारीगरी की प्रवृत्ति है। वे अपनी भाषा को फारसी-अरबी के कठिन और दुर्बोध शब्दों से बचाना चाहते थे। इनका वाक्य-विन्यास कभी-कभी बहुत लम्बा हो जाता है। अनुप्रासप्रियता उसमें विशेष रूप से झलकती है। उनकी भाषा का प्रतिनिधि उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

"मुक्त पर्वतों के शृङ्गों के नीचे सुन्दरी दरी समूह से स्वच्छ, श्वेत जल-प्रवाह ने मानो पानी की धारा और बिल्लौर की ढार को तुच्छ कर युगल पार्श्व की हरी-हरी भूमि के कि जो मारे हरेपन की श्यामता की फलक दे अलक की शोभा लाई है बीचोंबीच माँग-सी काढ़ मन माँग लिया और पत्थर की चट्टानों पर सुम्बुल अर्थात् हंसराज की बिखरी हुई लटों के लावण्य का लावा है।"

ठाकुर जगमोहन सिंह की भाषा यद्यपि प्रेमघन जी से मिलती-जुलती है तथापि उसमें लम्बे-लम्बे समासों की जटिलता नहीं है।

इन चारों लेखकों में से प्रथम दो अपने स्वाभाविक पथ पर थे, जब कि दूसरे कृत्रिम और अस्वाभाविक मार्ग को अपना रहे थे। इतना अवश्य है कि पिछले दोनों लेखकों का आग्रह भी संस्कृत-प्रधान शैली के प्रति था, जो कि हिन्दी की अपनी शैली है। आचार्य पं०

महावीरप्रसाद द्विवेदी के आगमन से पूर्व जिन दो और लेखकों ने हिन्दी-गद्य को प्रौढ़ता दी, उनमें से एक का नाम गोविन्दनारायण मिश्र है और दूसरे का बालमुकन्द गुप्त। मिश्र जी प्रेमघन और जगमोहन सिंह की परम्परा के लेखक थे और उनका गद्य बाण की 'कादम्बरी' की याद दिलाता है। इसके विपरीत गुप्त जी का आदर्श चलती हुई सर्व-जन-सुलभ भाषा है। गुप्त जी 'भारत मित्र' के सम्पादक थे और राजनीतिक तथा सामाजिक विषयों पर लेख लिखते थे। वे उर्दू के प्रचलित शब्दों का धड़ल्ले से प्रयोग करते थे। उन्होंने संस्कृत-प्रधान और समास-बहुला हिन्दी को स्वाभाविकता देकर भारतेन्दु, प्रताप-नारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट की शैली को बल दिया। उनकी भाषा का उदाहरण यह है—

"मेरी बलबलाहट उनके कानों को इतनी सुरीली लगती थी कि तुम्हारे बगीचे में तुम्हारे गवैयों तुम्हारी पसन्द की बीवियों के स्वर भी तुम्हें इतने अच्छे न लगते होंगे। मेरे गले के घण्टों का शब्द उनको सब बाजों से प्यारा लगता था।"

इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक हिन्दी-गद्य का रूप स्थिर नहीं हो पाया था। यह एक प्रकार से प्रयोग-काल था। गद्य में वैविध्य और विस्तार था, पर वह गहराई और प्रांजलता से रहित था। गंभीर और चलती हुई दो शैलियाँ तो स्पष्ट दिखाई दे ही रही थीं। उनमें से भी प्रत्येक के कई-कई रूप थे। सर्वश्री बाबू तोताराम, कार्तिकप्रसाद खत्री, देवकीनन्दन खत्री, राधाचरण गोस्वामी, अम्बिकादत्त व्यास, किशोरीलाल गोस्वामी आदि लेखक भारतेन्दु और उनके मण्डल के महारथियों के पथ पर नाना प्रकार की शैलियों का प्रयोग कर रहे थे। व्याकरण के दोष और स्थानीय प्रयोगों के साथ गद्य-काव्यत्व भी बना हुआ था। बंगला और मराठी के अनुवादों से जहाँ कोमल कान्त पदावली और संस्कृतमयता आ रही थी वहाँ उनकी अपनी शब्दावली का प्रवेश भी हो रहा था। सन् १८७३ से सन् १६००

तक गद्य में यही अस्थिरता की दशा थी।

महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी-गद्य—हिन्दी-गद्य की यह अस्थिरता सन् १६०० के बाद तब जाती है जब आचार्य पं० महावीर-प्रसाद द्विवेदी का आगमन होता है। सन् १६०० में एक ओर न्यायालयों में हिन्दी का प्रवेश होता है तो दूसरी ओर प्रयाग से 'सरस्वती' और काशी से 'सुदर्शन' मासिक-पत्र निकलते हैं। भारतेन्दु-युग में 'कवि वचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र मेगजीन', 'आनन्द कादम्बिनी', 'हिन्दी प्रदीप' आदि पत्रों ने साहित्य की बड़ी सेवा की थी, लेकिन वह मनोरंजन अथवा साहित्यिक, सामाजिक विषयों की ओर जन-रुचि जाग्रत करने तक थी। 'सरस्वती' और 'सुदर्शन' द्वारा मौलिक साहित्य-सृजन और भाषा-परिष्कार का एक साथ दुहरा कार्य हुआ। दूसरी ओर नागरी प्रचारिणी सभा काशी (स्थापित सन् १८६३) द्वारा हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज के कार्य और 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' द्वारा गंभीर विषयों पर प्रकाशित निबन्धों ने हमारे साहित्यिक प्रयत्नों को सांस्कृतिक स्वरूप दिया।

आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी से पूर्व संस्कृत-शब्दों के विशुद्ध प्रयोग पर बल देने वाले तद्भव और सरल शब्दों को महत्त्व देने वाले और हिन्दी-उर्दू की मिश्रित पदावली को लेकर चलने वाले ये तीन प्रकार के लेखक थे। आचार्य द्विवेदी ने भाषा की नाड़ी को पहचाना और भाषा को परिमार्जित तथा व्याकरण-सम्मत बनाकर एकरूपता देने का प्रयत्न किया। सन् १६०३ से १६२० तक के सत्रह वर्षों में 'सरस्वती' द्वारा उन्होंने भाषा की अस्थिरता दूर करने के लिए भगीरथ श्रम किया। उन्होंने विराम-चिह्नों और अनुच्छेद-बद्ध लेखन पर जोर दिया। प्रान्तीय शब्दों के स्थान पर सार्वभौम शब्दों के प्रयोग को वैध ठहराकर अश्लील शब्दों का घोर विरोध किया और हिन्दी-गद्य को सरलता, गंभीरता, प्रवाह, मधुरता और स्पष्टता दी। उन्होंने हिन्दी-गद्य को जातीय शैली दी। पुराने लेखकों को सुपथ पर लाना और नये लेखकों को भूलों से बचाना उनका ध्येय था। वे हिन्दी-उर्दू के झगड़े से दूर

रहकर साहित्य और भाषा दोनों को साहित्यिकता देना चाहते थे। उसमें उन्हें सफलता भी पूरी-पूरी मिली। उनकी भाषा का आदर्श रूप यह है—

"जिसका हृदय स्वभाव ही से पत्थर के समान है, जो जन्म-रोगी है, व्याकरण घोखते-घोखते जिसकी बुद्धि जड़ हो गई है, घट-घट और अग्निधूम आदि से सम्बन्ध रखने वाली फक्किकाएँ रटते-रटते जिसकी मानसिक सरसता दग्ध-सी हो गई है, महाकवियों की सुन्दर कविताओं का श्रवण भी जिसके कानों को अच्छा नहीं लगता, उसे आप चाहे जितनी शिक्षा दें और चाहे जितना अभ्यास करायें, वह कभी कवि नहीं हो सकता।"

आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के द्वारा भाषा को एकरूपता देने और व्याकरण-सम्मत बनाने से उसमें बड़ी शक्ति आई। उनके युग में नाना प्रकार की भाषा-शैलियों में अधिकृत रूप से रचना करने वाले लेखक पाये जाते हैं। सर्वश्री माधवप्रसाद मिश्र, अध्यापक पूर्णसिंह, व्रजनन्दनसहाय आदि में भावुकता-प्रधान और संस्कृत-गर्भित भाषा-शैली मिलती है। इनमें भी माधवप्रसाद मिश्र, प्रेमघन और गोविन्द नारायण मिश्र की परम्परा मिलती है और व्रजनन्दनसहाय में बंगला-प्रभावित कोमल कान्त पदावली में गूढ़ भाव-प्रकाशन की प्रवृत्ति पाई जाती है। अध्यापक पूर्णसिंह की भावुकता का रूप विचार के आवरण में ढका मिलता है। पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी अपनी कहानियों द्वारा अत्यन्त स्पष्ट, सरल और स्वच्छ भाषा-शैली का स्वरूप उपस्थित करते हैं। पं० पद्मसिंह शर्मा ने इंशा अल्ला खाँ और बालमुकुन्द गुप्त की जिन्दादिली को लेकर भाषा-शैली को ऐसा रूप दिया है जो अरबी-फारसी और संस्कृत के शब्दों को एक साथ लेकर चलने से गंगा-यमुना के संगम का-सा सुखद दृश्य उपस्थित करती है। इन सभी लेखकों की विशेषता यह है कि आचार्य पं० महवीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रवर्त्तित व्याकरण-सम्मत, एकरूपता और जातीय शैली वाली सुन्दर भाषा के स्वरूप की रक्षा करते हुए भी ये

लेखक अपनी-अपनी निजी विशेषता रखते हैं ।

इन सभी ने आगे चलकर हिन्दी-गद्य को प्रौढ़ता देने वालों का मार्ग प्रशस्त किया; अतः इनका विशेष महत्त्व है। इनका ढाँचा तो वही है जो द्विवेदी जी ने निश्चित किया है, पर उसमें कारीगरी इनकी अपनी है ।

हिन्दी-गद्य में प्रौढ़ता और परिमार्जन—सन् १६२० के बाद हिन्दी-गद्य में और भी प्रौढ़ता और परिमार्जन के तत्त्वों का समावेश हुआ । द्विवेदी जी ने जिस शुद्ध भाषा-शैली का सूत्रपात किया था उसका व्यापक प्रभाव पड़ा । हिन्दी का कोई भी ऐसा लेखक न था जो द्विवेदी जी के मार्ग पर चलने में प्रसन्नता का अनुभव न करता हो। अंग्रेजी, बंगला और मराठी से द्विवेदी जी ने नये-नये विषयों और विचारों की जो प्रेरणा पाई थी उसके फलस्वरूप हमारा दृष्टि-क्षितिज बहुत विस्तृत हुआ। १६२१ के आन्दोलन ने उसे और भी बल दिया । विश्व-युद्ध के फलस्वरूप समस्त विश्व के साथ सम्पर्क स्थापित हो ही चुका था, राष्ट्रीय आन्दोलन ने भारतीय जीवन को झकझोर दिया । इस काल में एक ओर वाराणसी, इलाहाबाद और कलकत्ता-विश्वविद्यालयों में एम० ए० कक्षाओं में हिन्दी का प्रवेश होने से साहित्य के उच्च विषयों पर हिन्दी में ग्रंथ लिखने की आवश्यकता अनुभव हुई । हिन्दी साहित्य सम्मेलन की परीक्षाओं ने भी इस क्षेत्र में महत्त्व का कार्य किया। अध्ययन-अध्यापन और शोध का कार्य प्रारम्भ हुआ। यह गम्भीर प्रयत्न था। इसके अतिरिक्त 'माधुरी' (१६२३), 'चाँद' (१६२३), 'समालोचक' (१६२५), 'कल्याण' (१६२६), 'विशाल भारत' (१६२५), 'सुधा' (१६२७), 'हंस' (१६३०) आदि मासिक पत्रों और 'कर्मवीर' (१६२४), 'स्वतंत्र भारत' (१६२८), 'जागरण' (१६२६), 'स्वराज्य' (१६३१) आदि साप्ताहिक पत्रों और 'आज' (१६२१), 'प्रताप' (१६२१), 'सैनिक' (१६२५) आदि दैनिक पत्रों ने राष्ट्रीय और साहित्यिक उत्तरदायित्व की ओर हिन्दी-भाषा-भाषियों का ध्यान और भी वेग से खींचा । फलतः अनेक साहित्य-महारथी आगे आये । कुछ ने उच्च शिक्षा के क्षेत्र में हिन्दी की गरिमा की रक्षा की, कुछ ने स्वतंत्र

साहित्यकार के रूप में रचनात्मक साहित्य की रचना की, और कुछ ने पत्रकार-कला द्वारा मार्ग-दर्शन किया। आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के बाद जिन लोगों ने हिन्दी-गद्य को प्रौढ़ता दी उनमें बाबू श्यामसुन्दर-दास, पं० रामचन्द शुक्ल, जयशंकर प्रसाद, प्रेमचन्द, राय कृष्णदास, हृदयेश, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, शिवपूजन सहाय, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, महाराजकुमार डॉक्टर रघुवीर सिंह आदि प्रमुख रूप से उल्लेख-नीय हैं। बाबू श्यामसुन्दर दास और पं० रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी को उच्च कक्षाओं का माध्यम बनाने में बड़ी सहायता दी। बाबूजी ने 'भाषा विज्ञान' और 'साहित्यालोचन' नामक दो गम्भीर पुस्तकें लिखकर हिन्दी को उन्नत भाषाओं की श्रेणी में बिठा दिया। उनका 'साहित्यालोचन' तो आज तक अपने विषय का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। आगे चलकर इस परम्परा में रामदहिन मिश्र और बाबू गुलाबराय ने भी अपना योग-दान दिया। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने एक कदम आगे बढ़कर पौर्वात्य और पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र का मंथन करके हिन्दी-आलोचना को राजपथ पर ला खड़ा किया। उन्होंने सबसे पहले 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखा और मनोवैज्ञानिक निबन्धों द्वारा हिन्दी-साहित्य के अभाव की पूर्ति की। सूर, तुलसी, और जायसी की भूमिकाओं से अपने काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों की व्याख्या करके उन्हें व्यावहारिक समीक्षा के अनुकूल सिद्ध किया। यद्यपि उनकी भाषा में विषयानुकूल अनेकरूपता है, फिर भी गांभीर्य कहीं नष्ट नहीं होता। उनकी भाषा-शैली का रूप देखिये—

"साहित्य के अन्तर्गत वह सारा वाङ्मय लिया जा सकता है, जिसमें अर्थ बोध के अतिरिक्त भावोन्मेष अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरंजन हो तथा जिसमें ऐसे वाङ्मय की विचारात्मक समीक्षा या व्याख्या हो। भावोन्मेष से मेरा अभिप्राय हृदय की किसी प्रकार की प्रवृत्ति से—रति, करुणा, क्रोध इत्यादि से लेकर रुचि-अरुचि तक से है और चमत्कार से मेरा अभिप्राय उक्ति-वैचित्र्य के कुतूहल से है। अर्थ से मेरा अभिप्राय वस्तु या विषय से है। अर्थ चार प्रकार के होते

हैं—प्रत्यक्ष, अनुमित, आप्तोपलब्ध और कल्पित। प्रत्यक्ष की बात हम अभी छोड़ते हैं। भाव या चमत्कार से निःसङ्ग विशुद्ध रूप में अनुमित अर्थ का क्षेत्र दर्शन-विज्ञान है, आप्तोपलब्ध का क्षेत्र इतिहास है। कल्पित अर्थ का प्रधान क्षेत्र काव्य है।"

गंभीर-से-गंभीर विषय को व्यक्त करने की क्षमता इस भाषा में है। शुक्लजी ने अपनी साधना से हिन्दी-गद्य को श्रेष्ठतम भाषाओं के गद्य के निकट ला दिया।

यह तो आलोचना और समीक्षा के क्षेत्र की बात हुई। सृजनात्मक साहित्य के क्षेत्र में भी ऐसा ही कार्य हुआ। इस दृष्टि से प्रसाद और प्रेमचन्द ने अपने नाटकों और कथा-साहित्य द्वारा हिन्दी-गद्य को समृद्ध किया। प्रसाद मूलतः कवि थे, अतः उनके कथा-साहित्य में भी कवित्व ही प्रमुख है। उनकी गद्य-रचनाओं में भी काव्य का-सा आनन्द आता है। उपमा, रूपक आदि अलंकारों और हृदय की सूक्ष्म भावनाओं के अनुकूल शब्द-चयन से उनकी भाषा पाठक का मन मोह लेती है। बहुधा वह गद्य-काव्य के निकट पहुँच जाती है—

"मैंने तुम्हें अपने यौवन के पहले ग्रीष्म की अर्द्ध रात्रि में आलोकपूर्ण नक्षत्र लोक से कोमल हीरक कुसुम के रूप में आते देखा। विश्व के असंख्य कोमल कण्ठों की रसीली तानें पुकार बनकर तुम्हारा अभिनन्दन करने, तुम्हें सँभालकर उतारने के लिये नक्षत्र-लोक को गई थीं। शिशिर कणों से सिक्त पवन तुम्हारे उतरने के लिए सीढ़ी बना था, उषा ने स्वागत किया, चाटुकार मलयानिल परिमल की इच्छा से परिचारक बन गया और बरजोरी मल्लिका के एक कोमल वृक्ष का आसन देकर तुम्हारी सेवा करने लगा।"

प्रसाद की काव्यात्मक भाषा का और भी आलंकारिक रूप चण्डी प्रसाद 'हृदयेश' में भी मिलता है।

आगे चलकर गद्य-काव्य नाम की जो विधा हिन्दी में विकसित हुई उसकी भाषा पर 'प्रसाद' और 'हृदयेश' का पूरा-पूरा प्रभाव है। भावुकता

का तत्त्व तो भारतेन्दु के युग से ही चला आ रहा था, गद्य का यह सुन्दर परिधान इन वरेण्य लेखकों ने दिया। राय कृष्णदास, वियोगी हरि और रघुवीरसिंह-जैसे गद्य-काव्य-लेखकों ने इसी भाषा को लेकर अपनी गद्य-शैलियों का निर्माण किया। इसका चरम विकास माखनलाल चतुर्वेदी में दिखाई देता है।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल की गम्भीर विचार-प्रकाशन-क्षम भाषा और प्रसाद जी की कवित्वमय भाषा के पश्चात् प्रेमचन्द की यथार्थवादी भाषा का रूप हमारे सामने आता है। प्रेमचन्द आरम्भ से उर्दू के लेखक थे। हिन्दी में वे बहुत बाद में आये। लेकिन वे थे युग-पुरुष। इसलिए उनकी कृतियों में युग मूर्त्त हुआ। युग मूर्त्त हुआ तो युग की चेतना के अनुकूल भाषा का भी रूप खड़ा हुआ। राजनैतिक, सामाजिक और साहित्यिक आन्दोलन की प्रतिक्रिया को व्यक्त करने के लिए प्रेमचन्द की भाषा बड़ी समर्थ है। वह प्रसाद की कवित्वमयी भाषा के विपरीत विचार-प्रकाशन का माध्यम है। यों प्रकृति-चित्रण अथवा भावावेश के स्थलों पर उनकी भाषा का रूप भी काव्यमय हो उठता है; पर ऐसा कम ही होता है। सामान्यतः उनकी भाषा बोल-चाल की चलती हुई हिन्दी है। जिसमें शब्द चाहे अरबी-फारसी के हों या संस्कृत के, वह कहीं भी प्रासादिकता नहीं खोती। उनकी भाषा का एक उदाहरण यह है—

"होरी प्रसन्न था। जीवन के सारे संकट, सारी निराशाएँ मानो उसके चरणों पर लोट रही थीं। कौन कहता है, जीवन-संग्राम में वह हारा है ? यह उल्लास, यह गर्व, यह पुलक क्या हार के लक्षण हैं। इन्हीं हारों में उसकी विजय है। उसके टूटे-फूटे अस्त्र उसकी विजय-पताकाएँ हैं। उसकी छाती फूल उठी है, मुख पर तेज आ गया है। होरी की कृतज्ञता से उसके जीवन की सारी सफलता मूर्तिमान हो उठी है। उसके बखार में सौ-दो सौ मन अनाज भरा होता, उसकी हाँड़ी में हजार-पाँच सौ रुपये गड़े होते, पर उससे यह स्वर्ग का सुख क्या मिल सकता था ?"

प्रेमचन्द की इस यथार्थवादी भाषा की परम्परा का ही रूप उग्र और आचार्य चतुरसेन शास्त्री में दिखाई देता है। ये दोनों लेखक ऐसी फड़कती हुई भाषा लिखने के लिए प्रसिद्ध हैं, जो व्यंग और तीखेपन में अद्वितीय है।

सन् १९२०-२१ से ३५-३६ तक इस प्रकार हिन्दी-गद्य में पं० रामचन्द्र शुक्ल, प्रसाद और प्रेमचन्द की परम्परा पुष्ट हुई। यह युग काव्य की दृष्टि से छायावादी काव्य का युग है। कल्पना और कोमलता के उपासक छायावादी कवियों ने, जिनमें प्रसाद का उल्लेख हो चुका है, गद्य को भी अपनी कृतियों से अलंकृत किया। पन्त ने अपनी कहानियों और आलोचनात्मक भूमिकाओं में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भाषा की भाव-व्यंजना-शक्ति का परिचय दिया, निराला ने अपने कथा-साहित्य और निबन्धों में स्वच्छन्द शैली को अपनाया, और महादेवी वर्मा ने अपने रेखाचित्रों तथा संस्मरणों में स्वच्छ गद्य का ऐसा रूप प्रस्तुत किया, जो कुछ लोगों को उनकी काव्यात्मक कृतियों से भी मोहक लगता है। इस प्रकार इस युग में आलोचना, निबन्ध, उपन्यास, कहानी, नाटक, रेखाचित्र, संस्मरण आदि साहित्य की विभिन्न विधाओं के अनुरूप नाना प्रकार की गद्य-शैलियों का विकास हुआ।

सन् १९३६ के बाद हिन्दी-गद्य की धारा में फिर परिवर्तन हुआ। इसके कई कारण हैं। एक तो प्रगतिशील लेखक संघ का जन्म होने से साहित्य के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। छायावादी युग में जो काल्पनिक और वायवी दृष्टिकोण था वह अब यथार्थ और ठोस हो गया। अब जान-बूझकर जन-जीवन का चित्रण साहित्य का लक्ष्य हो गया। सन् १९३९ में द्वितीय विश्व-युद्ध और १९४२ में 'भारत छोड़ो' आन्दोलन तथा १९४७ में स्वतन्त्रता-प्राप्ति ने जनता को समस्त विश्व की दलित, पीड़ित जनता के साथ मिला दिया। राष्ट्रीय जीवन में क्रान्ति की नई लहर दौड़ पड़ी। इस पर मार्क्सवाद का गहरा प्रभाव पड़ा। परिणाम स्वरूप क्या गद्य और क्या पद्य, सभी में भाव और भाषा सादगी की

ओर मुड़ गए। पत्रों में 'रूपाभ' और 'हंस' ने प्रगतिशील लेखकों का विशेष रूप से पथ-प्रदर्शन किया। रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचन्द गुप्त, राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, रांगेय राघव आदि लेखक भाषा को सरल और सुबोध बनाने में लग गए। कल्पना का जो ताना-बाना छायावादी गद्य में बुना गया था, उसकी डटकर खिल्ली उड़ाई जाने लगी और सरल भाषा में एकांकी, रिपोर्ताज़, व्यक्तिगत निबन्ध (पर्सनल एसे) और रेडियो-नाटक लिखे गए। उपन्यासों में जहाँ एक ओर जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, और अज्ञेय ने मनोवैज्ञानिक तथा मनो-विश्लेषणात्मक पद्धति को अपनाया वहाँ दूसरी ओर नागार्जुन, उदयशंकर भट्ट और फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने उसे आंचलिकता दी।

मनोविश्लेषण के कारण गद्य में बौद्धिक सूक्ष्मता और आंचलिकता के कारण जन-जीवन की यथातथ्यता अभिव्यंजित हुई, लेकिन हिन्दी-गद्य को गंभीरता देने का कार्य आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र और डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने किया है। वाजपेयी जी के गद्य में मनोवैज्ञानिक विवेचन ने शास्त्रीय रूप ग्रहण कर लिया है। उन्होंने सौंदर्य-शास्त्र के आधार पर गद्य को नवीन रूप दिया है। नगेन्द्र के गद्य में तात्विक विवेचन की अपूर्व क्षमता है। ऐसा लगता है, एक-एक शब्द मानो सोच-समझकर रखा गया है—न कम, न ज्यादा। ऐसा सूत्रात्मक गद्य शुक्ल जी के बाद आलोचना में नगेन्द्र में ही पाया जाता है। डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी का गद्य भावावेश में झरने की भाँति फूटता है। उनमें पाण्डित्य और भावुकता का अपूर्व सम्मिश्रण है। 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' का गद्य तो अद्वितीय है ही, क्योंकि वह सृजनात्मक साहित्य है। पर उनकी आलोचनात्मक कृतियों में भी वह सरस है। मानवतावाद ने उनके दृष्टिकोण की भाँति उनकी भाषा को भी विस्तार, प्रवाह और गहराई दी है।

हिन्दी गद्य-शैली का साहित्य और साहित्येतर विषयों में जो नाना प्रकार से विकास हो रहा है उसमें कई दोष भी हैं। व्याकरण

ग्रौर उच्चारण के ग्रतिरिक्त एकरूपता का ग्रभाव विशेष रूप से दिखाई देता है । ग्रहिंदी भाषा-भाषियों द्वारा होने वाले साहित्य-सृजन से भी कई समस्याएँ खड़ी हुई हैं । ऐसे समय में हिन्दी-गद्य को कम-से-कम एक-रूपता देने का प्रयत्न ग्रवश्य होना चाहिए । कभी-कभी मन में ग्राता है कि ग्राचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी-जैसा कोई प्रतिभा-सम्पन्न नेता ग्राये ग्रौर हमारी भाषा की ग्रराजकता को दूर करे । सबसे बड़ी कठिनाई पारिभाषिक शब्दावली से उत्पन्न होती है । मनोवैज्ञानिक ग्रथवा साहित्यिक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भिन्न-भिन्न प्रकार से हो रहा है, यह एकदम बन्द होना चाहिए । ग्राशा है, पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण के जो प्रयत्न चल रहे हैं उनसे ग्रागामी दस वर्षों में यह कठिनाई दूर हो जायगी ।

ग्रन्त में हम यह कहकर ग्रपने इस प्रकरण को समाप्त करेंगे कि हिन्दी-गद्य दिन-प्रति-दिन समृद्ध हो रहा है । उसकी परम्परा हजारों वर्षों से ग्रविच्छिन्न चली ग्रा रही है । विविध विषयों, विचारों, भावों ग्रौर मन:स्थितियों को व्यक्त करने की सामर्थ्य के कारण वह ग्राज विश्व की किसी भी सम्पन्न भाषा के समक्ष गर्व से खड़ा हो सकता है । हिन्दी के समीक्षक ग्रौर कला-स्रष्टा ग्राज इतने सजग हैं कि हिन्दी-गद्य को ग्रब हीन-भाव ग्रनुभव करने का कारण नहीं कहा जा सकता ।

२
नाटक

हिन्दी-नाटक का इतिहास बहुत अधिक पुराना नहीं है। उसका वास्तविक जन्म सन् १८७३ में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के मौलिक प्रहसन 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' से हुआ। उसे यदि और आगे ले जाया जाय तो जैसा स्वयं भारतेन्दु जी ने कहा है, विशुद्ध संस्कृत रीति पर हिन्दी में पहला मौलिक नाटक उनके पिता गोपालचन्द्र उपनाम 'गिरिधरदास' का सन् १८५९ में लिखा 'नहुष' नाटक है। कुछ लोगों की यह भी मान्यता है कि सन् १८५३ में अमानत द्वारा हिन्दी-उर्दू-मिश्रित भाषा में गीति-नाट्य (ऑपेरा) के ढंग पर रंगमंच की सुविधाओं को ध्यान में रखकर लिखा हुआ 'इन्दर सभा' हिन्दी का पहला नाटक माना जाना चाहिए। कारण, वह हिन्दी-नाटकों के प्रारम्भिक काल में लोक-रुचि और नाटक की शिल्प-विधि को ध्यान में रखकर लिखा गया था। कुछ विद्वानों की राय यह है कि रीवाँ नरेश विश्वनाथसिंह देव-लिखित 'आनन्द रघुनन्दन' (सन् १८३०), जिसमें व्रजभाषा-गद्य और पद्य दोनों मिलते हैं, हिन्दी का पहला नाटक माना जाना चाहिए। हमारी सम्मति में नाटक का वास्तविक जन्म भारतेन्दु बाबू के काल से ही होता है; फिर भी इन शेष रचनाओं के आधार पर अधिक-से-अधिक उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में हिन्दी-नाटक के जन्म की तिथि निश्चित की जा सकती है।

इसका कारण यह है कि अंग्रेजों के सम्पर्क से जो नव जागरण की चेतना देश में आई उसी का फल साहित्य की अनेक विधाओं का विकास है।

अंग्रेजों के कारण एक ओर तो हम विकसित अंग्रेजी नाटक और रंगमंच के सम्पर्क में आये और दूसरे सर विलियम जोन्स, मैक्समूलर, प्रिंसेप, कनिंघम मोनियर विलियम्स-जैसे विदेशी विद्वानों द्वारा संस्कृत-साहित्य के गुण-गान और स्वामी दयानन्द द्वारा आर्य-संस्कृति के शंख-नाद से हमारा ध्यान अपने प्राचीन साहित्य की ओर गया। परिणामस्वरूप संस्कृत-नाटक और अंग्रेजी नाटक दोनों के सम्पर्क से हिन्दी-नाटक का निर्माण हुआ। चूंकि बंगाल में अंग्रेजी शिक्षा और साहित्य का अनुकरण पहले हुआ था, अतः बंगला के माध्यम से भी संस्कृत और अंग्रेजी दोनों भाषाओं के नाटकों का प्रभाव भी हम पर पड़ा। इस प्रकार यह कहना असंगत न होगा कि हिन्दी-नाटक अंग्रेजी नाटक और रंगमंच से प्रेरणा पाकर विकसित हुआ है।

इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए भी नाटक-साहित्य के विद्वान् आलोचक और शोधकर्ता हिन्दी-नाटक के उद्भव-काल को बहुत पीछे ले जाते हैं। उनकी दृष्टि से हिन्दी-नाटक अपनी स्वाभाविक परम्परा में विकसित हुआ है। डॉ० दशरथ ओझा ने रामलीला, रासलीला, स्वांग और नौटंकी, आदि जन-नाटकों को ही आधुनिक नाटक का मूल स्रोत माना है ('हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृष्ठ ४२)। इसके विपरीत डॉक्टर वार्ष्णेय, आधुनिक देशी नाटकों के विकास में रंगमंच का प्रभाव मानते हैं। ('आधुनिक हिन्दी साहित्य', पृष्ठ १२६)। हमारी विनम्र सम्मति में डॉक्टर वार्ष्णेय का मत अधिक समीचीन जान पड़ता है।

उन्नीसवीं शताब्दी से पहले की जो नाट्य-सामग्री उपलब्ध है उसके आधार पर विद्यापति हिन्दी के प्रथम नाटककार ठहरते हैं। उनका समय चौदहवीं शताब्दी है। उनके 'रुक्मिणी-हरण' और 'पारिजात हरण' दो नाटक प्रसिद्ध हैं। उसके बाद केशवदास का 'विज्ञान-गीता', कृष्ण जीवन का 'करुणाभरण', प्राणचन्द चौहान का 'रामायण महानाटक', हृदयराम का 'हनुमन्नाटक', बनारसीदास का 'समय-सार नाटक', महाराज यशवन्तसिंह द्वारा अनूदित 'प्रबन्ध चन्द्रोदय नाटक',

कविवर नेवाज का 'शकुन्तला नाटक', देव का 'देव-माया-प्रपंच', आलम का 'माधवानल कामकन्दला', विश्वनाथसिंह का 'आनन्द रघुनन्दन', मंजु का 'हनुमान नाटक', मंसाराम का 'रघुनाथ रूपक', कृष्ण शर्मा का 'रासलीला विहार नाटक', हरिराम का 'जानकी रामचरित नाटक', व्रजवासीदास का 'प्रवन्ध चन्द्रोदय' आदि नाटक सोलहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक मिलते हैं। इन नाटकों की कथावस्तु 'राम' और 'कृष्ण' के जीवन से ली गई है। 'आनन्द रघुनन्दन' को छोड़कर इन सबमें पद्य की भरमार है। हाँ, संस्कृत-नाट्य-परम्परा के अनुसार अंक-विभाजन अवश्य इनमें मिल जाता है। वस्तुतः इनका जन्म ही ऐसे समय में हुआ था जब कि नाटक और रंगमंच के विकास के लिए परिस्थितियाँ नितान्त प्रतिकूल थीं।

दसवीं शताब्दी के वाद मुसलमानों के आगमन और नाटक तथा संगीत के प्रति उनके विरोधी दृष्टिकोण के कारण ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी से चली आ रही भास, कालिदास, अश्वघोष, भवभूति आदि के नाटकों की समृद्ध परम्परा समाप्त हो गई और जनता रासलीला, रामलीला या स्वांगों से जी बहलाव करने लगी। इनमें पद्य का ही बाहुल्य होता था। विषय-वस्तु की दृष्टि से राम और कृष्ण मध्यकाल में काव्य के विषय थे ही, इन लोक-नाट्यों में भी उनका प्रवेश हो गया और इने-गिने शिक्षित व्यक्तियों ने जब नाटक-रचना की तो उन्हें भी कथा-वस्तु के लिए इन्हीं दो महापुरुषों के जीवन को लेना पड़ा। विकसित रंगमंच के अभाव में इन नाटककारों ने पद्यबद्ध संवाद ही रखे। न केवल हिन्दी-प्रदेश में वल्कि बँगला में 'यात्रा', असमिया में 'अंकिया' मिथिला में 'कीर्तनियाँ,' मालवा में 'माच,' गुजरात में 'भवाई' और राजस्थान में 'रास' पद्य-वद्ध लोक-नाट्य हैं। इसीके समानान्तर जन-रुचि के परिष्कार के लिए साहित्यिक पद्य-वद्ध नाटकों की भी रचना हुई। लेकिन यह सब पद्यबद्ध संवाद ही है। कुछ लोग उन्हें नाट्य-काव्य (Dramatic poetry) के अन्तर्गत रखते हैं।

भारतेन्दु की देन—जैसा कि पहले कहा भी जा चुका है, भारतेन्दु बाबू ही हिन्दी-नाटक के जन्मदाता हैं। उनसे पहले विश्वनाथसिंह-कृत 'आनन्द रघुनन्दन', अमानत-कृत 'इन्दर-सभा' और गोपालचन्द्र उपनाम 'गिरिधरदास'-कृत' नहुष' (जिनका पहले उल्लेख हो चुका है,) के अतिरिक्त राजा लक्ष्मणसिंह-कृत संस्कृत से अनूदित 'शकुन्तला' (सन् १८६१) और शीतलप्रसाद त्रिपाठी-कृत 'जानकी मंगल' (सन् १८६२) दो महत्त्वपूर्ण कृतियाँ और मिलती हैं। भारतेन्दु से पहले के जो नाटक मिलते हैं उनमें संस्कृत की परम्परा के दर्शन सर्वप्रथम विश्वनाथसिंह के 'आनन्द रघुनन्दन' में ही होते है। उसके बाद भारतेन्दु बाबू के पिता का नाटक 'नहुप' आता है।

भारतेन्दु बाबू की प्रथम प्राप्त रचना 'विद्यासुन्दर' नाटक है, जो संस्कृत के चौर कवि की रचना 'विद्यासुन्दर' का अनुवाद है। उस समय बंगाल में 'विद्यासुन्दर' की कथा विशेष रूप से प्रचलित थी। उसीकी छाया के प्रकाश में उन्होंने संस्कृत से इस नाटक का अनुवाद किया था। सुना जाता है कि भारतेन्दु ने सबसे पहले 'प्रवास' नामक मौलिक नाटक ही लिखा था, परन्तु वह अप्राप्य है। अतः 'विद्यासुन्दर' से ही उनकी नाट्य-रचना आरंभ होती है। इसमें विद्या और सुन्दर की प्रेम-कथा का रोचक वर्णन है। 'विद्यासुन्दर' के अतिरिक्त उनकी अन्य नाट्य-कृतियों के नाम हैं—'पाखण्ड विडम्बन' (सन् १८७२), 'धनंजय-विजय' (सन् १८७३), 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (सन् १८७३), 'प्रेमयोगिनी' (सन् १८७५), 'सत्य हरिश्चन्द्र' (सन् १८७५) 'कर्पूर मंजरी' (सन् १८७५), 'चन्द्रावली' (सन् १८७६), 'मुद्राराक्षस' (सन् १८७६), 'विषस्य विषमौषधम्' (सन् १८७६), 'दुर्लभ बन्धु' (सन् १८८०), 'भारत-दुर्दशा' (सन् १८८०) 'अन्धेर-नगरी' (सन् १८८१), 'नीलदेवी' गीति-रूपक (सन् १८८१), 'सती-प्रताप' गीति रूपक (अपूर्ण सन् १८८३), 'भारत जननी' (बंगला 'भारत समता' के आधार पर सन् १८८४ में तीसरी बार

प्रकाशित) आदि ।

भारतेन्दु की यह नाट्य-सृष्टि नाटक के उद्भव के समय अत्यन्त सन्तोषजनक है । बंगला से प्रेरणा लेकर भारतेन्दु ने हिन्दी के नाटक-साहित्य को समृद्ध करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया । भारतेन्दु के इन नाटकों में कुछ में सामाजिक-राजनैतिक समस्याओं को लिया गया है, जैसे—'भारत-दुर्दशा' 'नीलदेवी' आदि । कुछ पौराणिक हैं, जैसे-'सती प्रताप' । कुछ का सम्बन्ध प्रेम-तत्त्व से है, जैसे-'चन्द्रावली'; और कुछ प्रहसन हैं, जिनमें सामाजिक कुरीतियों की खिल्ली उड़ाई गई है, जैसे-'अन्धेर नगरी', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' आदि । भारतेन्दु के मौलिक नाटकों के यही विषय हैं । उन्होंने संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी से अनुवाद या छायानुवाद भी किये हैं, जैसे 'मुद्राराक्षस' (संस्कृत) 'विद्यासुन्दर' (बंगला), 'दुर्लभ-बन्धु' (शेक्सपीयर के 'मर्चेण्ट ऑफ वेनिस' का अनुवाद अंग्रेजी) ।

भारतेन्दु युगपुरुष थे । उनसे पहले या तो रामलीला, रासलीला, स्वांग या सांगीत की लोक-नाट्य-परम्परा थी या संस्कृत की नाट्य-सम्पत्ति थी या पारसी-कम्पनियों द्वारा खेले जाने वाले नाटक थे या बंगला नाट्य-कृतियों का भण्डार था । हिन्दी की अपनी कोई परम्परा नहीं थी । उन्होंने विशेष रूप से संस्कृत और अंग्रेजी से प्रेरणा लेकर हिन्दी-नाट्य-साहित्य के निर्माण का अनुष्ठान किया । बंगला के नाटकों का विकास भी संस्कृत और अंग्रेजी के समन्वय से ही हो रहा था, अतः उनका अनुवाद भी मूल में संस्कृत और अंग्रेजी की सम्मिलित धारा को लेकर ही चला था । वह युग सांस्कृतिक चेतना और सुधार का था, इसलिए भारतेन्दु के नाटकों का प्रणयन सोद्देश्य हुआ है । वे समाज-सुधार की भावना से लिखे गए हैं ।

भारतेन्दु ने न केवल विपुल नाट्य-साहित्य का ही सृजन किया, प्रत्युत 'नाटक' नाम से उन्होंने सन् १८८३ में हिन्दी-नाट्य-शास्त्र का निर्माण भी किया । डॉक्टर वार्ष्णेय का 'नाटक' ग्रन्थ के सम्बन्ध में

यह मत निश्चय ही सत्य है कि संस्कृत में भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र का जो स्थान है वही हिन्दी में 'नाटक' का है ('आधुनिक हिन्दी साहित्य', पृष्ठ ११०)। वे संस्कृत और अंग्रेजी की नाट्य-शैलियों से पूर्णतया परिचित थे। बंगला तो उनकी प्रेरणा का स्रोत थी ही। इन सबके मिश्रण से उन्होंने नाटक के तत्त्व-निर्धारण का जो प्रयत्न किया वह अभूतपूर्व था। उन्होंने नाटकों में समर्पण की प्रथा का सूत्रपात किया, मंगलाचरण, नान्दी-पाठ, प्रस्तावना आदि का प्रयोग बनाये रखा, कार्यावस्थाओं, संधियों और अर्थ-प्रकृतियों को अपेक्षाकृत कम महत्त्व दिया, दृश्य बदलने की दृष्टि से अंक में गर्भाङ्कों का प्रयोग किया, कथावस्तु को सरल किया, पात्रानुकूल भाषा और कथोपकथन रखे, मध्यवर्ग और निम्नवर्ग के पात्रों को भी स्थान दिया, सामाजिक, राजनैतिक समस्याओं का समावेश किया, चरित्र-चित्रण और रस के समन्वय को नाटक का आदर्श माना और उचित अन्तर्द्वन्द्व का भी समावेश किया।

भारतेन्दु के सहयोगियों में श्रीनिवासदास और राधाकृष्णदास ने भारतेन्दु के नाट्यादर्शों का पालन करने की चेष्टा की है। श्रीनिवास-दास के 'रणधीर प्रेम मोहिनी' (सन् १८७८), 'तप्तासंवरण' (सन् १८८३) और 'संयोगिता स्वयम्वर' (सन् १८८५) तथा राधाकृष्ण दास के 'दुःखिनी बाला' (सन् १८८०), 'पद्मावती' (सन् १८८२) 'धर्मालाप' (सन् १८८५) और 'महाराणा प्रताप' (सन् १८९७) मौलिक तथा साहित्यिक नाटक हैं। किशोरीलाल गोस्वामी के 'मयङ्क-मंजरी' और राव कृष्णदेवशरणसिंह के 'माधुरी रूपक' की गणना भी भारतेन्दु-युग के श्रेष्ठ नाटकों में हो सकती है। इन गिने-चुने नाटककारों के अतिरिक्त शेष नाटककार बड़ी साधारण प्रतिभा वाले हैं। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने पौराणिक, सामाजिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक प्रेम-सम्बन्धी तथा अन्य प्रकार के नाटकों की जो परम्परा डाली उसके अनुसार भारतेन्दुयुगीन नाटकों

का अध्ययन सुविधाजनक होगा।

पौराणिक—पौराणिक नाटकों की परम्परा 'रामायण' तथा 'महाभारत' के कथानकों से चली। राम और कृष्ण के अतिरिक्त हरिश्चन्द्र, गोपीचन्द, भर्तरी, नल-दमयन्ती, प्रह्लाद आदि की कथाएँ इन नाटकों के लिए ग्रहण की गई। इस वर्ग के अधिकांश नाटक रामलीला और रासलीला से प्रभावित हैं। इस प्रकार के नाटकों में देवकीनन्दन त्रिपाठी के 'सीताहरण नाटक' (सन् १८७६), 'रुक्मिणी हरण' नाटक (सन् १८७६), 'रामलीला नाटक' (सन् १८७९) और 'कंस वध नाटक' (सन् १८७९), वल्देवप्रसाद मिश्र का 'नन्दविदा' (सन् १९००), ज्वालाप्रसाद मिश्र का 'सीता वनवास' (सन् १८९५)तथा दुर्गाप्रसाद मिश्र का 'प्रभास-मिलन'(सन् १८८९) आदि लिये जा सकते हैं। लेकिन ये सब नाटक साधारण कोटि के हैं। पौराणिक नाटकों में यदि कोई नाटक महत्त्व का है तो वह बालकृष्ण भट्ट का 'दमयन्ती स्वयम्वर' है।

सामाजिक नाटक—भारतेन्दुकालीन नाटकों का ध्येय मनोरंजन न होकर समाज-सुधार है, यह हम पहले बता चुके हैं। पराधीनता और अज्ञान के कारण उस समय के लोगों में बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, विधवा-विवाह-निरोध आदि सामाजिक कुरीतियाँ दिखाई देती हैं। राधाकृष्णदास, देवकीनन्दन त्रिपाठी और काशीनाथ खत्री ने इन समस्याओं पर नाटक लिखे। ऐसे कुछ नाटकों के नाम हैं—'विधवा-विवाह' (सन् १८८२), 'विवाहिता-विलाप' (सन् १८८३), 'अबला-विवाह' (सन् १८८४), 'बाल्य-विवाह' (सन् १८८४), 'वृद्धावस्था-विवाह' (सन् १८८८) आदि। राधाकृष्णदास का 'दुःखिनी बाला' इस प्रकार के नाटकों में सर्वश्रेष्ठ है।

ऐतिहासिक नाटक—'नीलदेवी' (सन् १८८७) लिखकर भारतेन्दु ने ऐतिहासिक नाटकों का सूत्रपात किया था। उस परम्परा को आगे बढ़ाने में श्रीनिवासदास, राधाकृष्णदास और राधाचरण गोस्वामी ने

महत्त्व का कार्य किया। श्रीनिवासदास का 'संयोगिता स्वयंवर', राधाकृष्णदास का 'पद्मावती' और 'महाराणा प्रताप', राधाचरण गोस्वामी का 'अमरसिंह राठौर' आदि महत्त्व की रचनाएँ हैं, जिनमें 'महाराणा प्रताप' और 'अमरसिंह राठौर' में साहित्यिक सौंदर्य की रक्षा विशेष रूप से हुई है। इनका उद्देश्य प्राचीन गौरव की झलक दिखाना है।

राष्ट्रीय नाटक—भारतेन्दु ने 'भारत-दुर्दशा' (सन् १८८०) लिखकर राष्ट्रीय नाटकों की परंपरा आरंभ की थी। इस नाटक में अंग्रेजी राज्य में भारत के पतन का चित्र है। इसकी परम्परा को आगे बढ़ाने में भारतेन्दु-युग के सभी प्रमुख लेखकों ने भाग लिया। उल्लेखनीय कृतियाँ हैं—केशवराम भट्ट-कृत 'सज्जाद सम्बुल' (१८७७), अम्बिकादत्त व्यास-कृत 'भारत सौभाग्य' (१८८७), बदरीनारायण चौधरी-कृत 'भारत सौभाग्य' (१८८८) आदि।

प्रेम-प्रधान नाटक—भारतेन्दु के मौलिक नाटक 'चन्द्रावली' में प्रेम की मार्मिक व्यंजना है। श्रीनिवासदास-कृत 'रणधीर प्रेम मोहिनी' और 'तप्तासंवरण', खड्ग बहादुर मल्ल-कृत 'रति कुसुम' (सन् १८८५), किशोरीलाल गोस्वामी-कृत 'मयंक मंजरी' (सन् १८९१), शालिग्राम-कृत 'लावण्यवती सुदर्शन' (१८९२) उसी परम्परा की रचनाएँ हैं। इन सभी का वातावरण काव्यात्मक है।

प्रहसन—संस्कृत में हास्य की योजना विशुद्ध मनोरंजन की दृष्टि से होती है। रूपकों में प्रहसन की महत्ता भी विशुद्ध हास्य-विनोद की दृष्टि से मानी गई है परन्तु भारतेन्दु ने पाश्चात्य प्रभाव के कारण 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' या 'अन्धेर नगरी' में जिस हास्य की योजना की है वह सोद्देश्य है और उससे सामाजिक या राजनैतिक विकृति पर करारी चोट पड़ती है। भारतेन्दु के बाद प्रहसन बड़े जोर से लिखे जाने लगे और उनकी विषय-वस्तु वेश्या-वृत्ति, अविद्या, सूदखोरी, नशेबाजी, अंग्रेजी शिक्षा और फैशन का दुष्परिणाम आदि तक

व्यापक हो गई। भारतेन्दु युग के प्रहसन-लेखकों में सर्वश्री देवकीनन्दन त्रिपाठी, पं० बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, किशोरीलाल गोस्वामी और गहमरी प्रमुख हैं। त्रिपाठी ने जयनारसिंह (सन् १८७६), 'रक्षाबन्धन' (सन् १८७८), 'स्त्री चरित्र' (सन् १८७६), 'कलयुगी जनेऊ' (सन् १८८३) द्वारा विभिन्न सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार किया। पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'जैसा काम वैसा परिणाम' (सन् १८७७) में वेश्यागामियों की धज्जियाँ उड़ाई, प्रतापनारायण मिश्र ने 'कलि कौतुक रूपक' (सन् १८८६) में सामाजिक पतन पर प्रकाश डाला और राधाचरण गोस्वामी ने 'तन मन धन गोसाईंजी के अर्पण' (सन् १८६०) और बूढ़े मुँह मुँहासे' (सन् १८८७) में धार्मिक पाखण्ड का भण्डाफोड़ किया।

अनुवाद—मौलिक नाटकों के अतिरिक्त इस युग में संस्कृत, अंग्रेजी और बंगला के नाटकों के अनुवाद भी पर्याप्त मात्रा में हुए। स्वयं भारतेन्दु ने इन तीनों भाषाओं से अनुवाद किये थे। उनसे भी पहले राजा लक्ष्मणसिंह ने 'शकुन्तला' का अत्यन्त सुन्दर अनुवाद किया था। संस्कृत-नाटकों के अनुवाद का कार्य लाला सीताराम बी० ए० उपनाम 'भूप कवि' ने किया। 'मालविकाग्निमित्र' (कालिदास), 'महावीर चरित', 'उत्तर रामचरित', 'मालती माधव' (भवभूति), 'मृच्छकटिक' (शूद्रक), 'नागानन्द' (हर्षदेव) आदि के अनुवादों से उन्होंने हिन्दी-भाषा-भाषी जनता को संस्कृत-नाटक-साहित्य से परिचित कराया। अन्य संस्कृत से अनुवाद करने वालों में शीतलाप्रसाद (प्रवोध चन्द्रादेय), रामेश्वर भट्ट (रत्नावली) और ज्वालाप्रसाद मिश्र (वेणी संहार) उल्लेखनीय हैं।

अंग्रेजी से पहला अनुवाद सन् १८७६ में तोताराम वर्मा ने जोसेफ एडीसन-कृत 'केटो' नाटक का 'केटो कृत्तान्त' नाम से किया। फिर इटावा के रत्नचन्द्र ने शेक्सपीयर के 'कॉमेडी ऑफ एरर्स' का 'भ्रमजालिका' नाम से अनुवाद किया। भारतेन्दु ने 'दुर्लभबन्धु' नाम से 'मर्चेण्ट ऑफ वेनिस' का अनुवाद किया ही था। शेक्सपीयर के 'रोमियो जूलियट' और

'एज़ यू लाइक यू इट' का अनुवाद पुरोहित प्रतापनारायण ने 'प्रेम-लीला' और 'मन-भावन' नाम से किया। मथुराप्रसाद उपाध्याय ने 'साहसेन्द्र' नाम से 'मैकबेथ' का अनुवाद किया। बँगला से अनुवाद करने वालों में सर्व श्री रामकृष्ण वर्मा, मुंशी उदितनारायण वकील, केशवराम भट्ट आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। वर्माजी ने 'पद्मावती' (राजकिशोर दे-कृत), 'कृष्णाकुमारी' (मधुसूदन दत्त-कृत), मुंशी उदितनारायण ने 'सती नाटक' (मनमोहन वसु-कृत), 'दीप निर्वाण,' 'अश्रुमती' नाटक और केशवराम भट्ट ने बंगला के 'शरत् और सरोजिनी' के आधार पर 'सज्जाद सम्बुल' और 'सुरेन्द्र विनोदिनी' के आधार पर 'शमशाद सौशन'-जैसे सुन्दर नाटक लिखे।

सारांश यह कि भारतेन्दु-युग में अनुवादों की भी धूम रही। मौलिक नाटककारों में भारतेन्दु और उनके पिता श्रीनिवासदास, राधाकृष्ण दास-जैसे एक-दो सहयोगियों को छोड़कर अधिकांश को न तो पाश्चात्य नाट्य-कला का ज्ञान था और न पौर्वात्य का; लेकिन उनका उत्साह प्रशंसनीय है।

भारतेन्दु के बाद हिन्दी-नाटक का जो उत्कर्ष होना चाहिए था वह नहीं हुआ। भारतेन्दु के पश्चात् प्रसाद के नाट्य-क्षेत्र में आने तक जो नाटक लिखे गये उनमें बद्रीनाथ भट्ट का 'कुरुवन दहन' (१९१२), माधव शुक्ल का 'महाभारत' (१९१५) और माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन युद्ध' (सन्१९२२) ही साहित्यिक दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इन साहित्यिक नाटकों के अतिरिक्त अधिकांश रंगमंचीय थे। रंगमंच हमारे यहाँ एक तो पारसियों का था, जो व्यवसायी था; और दूसरा अव्यवसायी रंगमंच भी था, जो व्यवसायी रंगमंच के विरोध में सुरुचि की रक्षार्थ खुला था। व्यवसायी रंगमंच का उद्देश्य पैसा कमाना था। पं० नारायणप्रसाद 'बेताब' और आगा हश्र काश्मीरी ये लेखक पारसी कम्पनियों के लिए नाटक लिखने वालों में प्रमुख थे। इनके नाटकों में अश्लीलता प्रचुर मात्रा में थी। उर्दू का वातावरण और वेश्याओं के नाच-गान का धूम-धड़ाका

था। इन कम्पनियों के लिए जो नाटक लिखे जाते थे उनके नाम होते थे, 'मीठी छुरी', 'सफेद खून', 'ख्वाबे हस्ती', 'दिलफरोश' आदि। पौराणिक और धार्मिक नाटक भी नाम को छोड़कर इसी रंग में रँगे रहते थे। इससे जनता की रुचि विकृत होती देखकर सर्वप्रथम प्रयाग में अव्यवसायी नाटक-मण्डली की स्थापना हुई, जिसमें रामलीला के अवसर पर नाटक खेले जाते थे। काशी में 'नागरी नाट्य-कला-प्रवर्त्तन मण्डली' भारतेन्दु के परिवार के श्री व्रजचन्द ने स्थापित की थी। वह आगे चलकर 'भारतेन्दु नाटक मण्डली' और 'काशी नागरी नाटक मण्डली' दो भागों में बँट गई थी। ये साहित्यिक नाटकों के अभिनयार्थ थीं। सन् १६०८ में माधव शुक्ल के प्रयत्न से हिन्दी-नाट्य-समिति बनी थी, जिसने 'महाभारत' (माधव शुक्ल) और 'महाराणा प्रताप' (राधाकृष्ण दास) का अभिनय किया था। 'बुद्धदेव' नाटक के लेखक श्री विश्वम्भरसहाय 'व्याकुल' ने 'व्याकुल-भारत-नाटक-मण्डली' की स्थापना करके भी इस कार्य में हाथ बटाया था। इस अव्यवसायी रंगमंच को दृष्टि में रखकर लिखे गए नाटकों में बद्रीनाथ भट्ट का 'तुलसीदास' (१६१२), कृष्णप्रकाश सिंह-कृत 'पन्ना' (१६१५), हरिदास माणिक-कृत 'संयोगिता हरण या पृथ्वीराज', 'पाण्डव प्रताप' या 'युधिष्ठिर' (१६१७), मिश्रबन्धु-कृत 'नेत्रोन्मीलन' (१६१५), मैथिलीशरण गुप्त-कृत 'चन्द्रहास' (१६१६), सुदर्शन-कृत 'अंजना' (१६२२), वियोगी हरि-कृत 'छद्म योगिनी' (१६२३), गोविन्द-वल्लभ पन्त-कृत 'वरमाला' (१६२५) और पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' का 'महात्मा ईसा' (१६१८) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

अव्यवसायी रंगमंच के लिए नाटक लिखने वाले इन नाटककारों की सुरुचि-सम्पन्नता का प्रभाव व्यवसायी रंगमंच के लिए नाटक लिखने वालों पर भी पड़ा। उन्होंने भी जनता के हित की दृष्टि से पौराणिक नाटक लिखने आरम्भ किये। ऐसे नाटककारों में पं० राधेश्याम कथावाचक का नाम सबसे पहले आता है। उन्होंने 'वीर अभिमन्यु' (१६१६), 'रुक्मिणी-मंगल' (१६२७), श्रवणकुमार (१६२८), 'द्रौपदी

स्वयंवर' (१६२६) आदि नाटक लिखे। उनसे प्रेरणा पाकर बेताब, हसरत, आगा हश्र काश्मीरी, तुलसीदत्त शैदा आदि अन्य व्यवसायी रंगमंच के नाटककारों में भी कर्तव्य-बुद्धि जाग्रत हुई और उन्होंने भी चरित्र-चित्रण भाषा, सम्वाद आदि को सुरुचि के अनुकूल ढाला।

इतना होने पर भी यदि प्रसाद और भारतेन्दु बाबू के बीच के समय में कोई एक नाटककार उनकी परम्परा को आगे बढ़ाता है, तो वह बद्रीनाथ भट्ट हैं। रंगमंच की दृष्टि से नाट्य-क्षेत्र में माधव शुक्ल का स्थान इस काल में सर्वोपरि है। फिर भी सब मिलाकर यह समय नाट्य-कला के पतन का ही है।

प्रसाद का आगमन—नाटकों के उत्कर्ष का दूसरा युग महाकवि जयशंकर प्रसाद के आगमन से प्रारम्भ होता है। प्रसाद भारतेन्दु बाबू के आधुनिक संस्करण थे। वे भी उन्हींकी भाँति साहित्य की प्रत्येक विधा को समान रूप से अपनी प्रतिभा से चमका गये। प्रसाद जी के नाटकों के नाम हैं—'सज्जन' (१६१०-११), 'कल्याणी परिणय' (१६१२), 'प्रायश्चित्त' (१६१४), 'राज्यश्री' (१६१५), 'विशाख' (१६२१), 'अजात शत्रु' (१६२२), 'कामना' (१६२३), 'स्कन्द गुप्त' (१६२८), 'जन्मेजय का नागयज्ञ' (१६३०), 'एक घूंट' (१६३०), 'चन्द्र गुप्त' (१६३१), 'ध्रुव स्वामिनी' (१६३३) आदि।

काल-क्रमानुसार इस सूची के आधार पर हम इन नाटकों के तीन वर्ग कर सकते हैं। **१—प्रयोगकालीन नाटक,** जिनमें 'सज्जन,' 'कल्याणी परिणय', 'प्रायश्चित्त', 'राज्यश्री' और 'विशाख' की गणना हो सकती है। **२—नाट्य-कला की दृष्टि से उत्कर्ष प्राप्त ऐतिहासिक नाटक,** जिनमें 'अजात-शत्रु', 'जन्मजेय का नागयज्ञ', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' को रखा जा सकता है। **३—युग की समस्याओं को प्रतिबिम्बित करने वाले नाटक,** जिनमें प्रतीकवादी शैली पर लिखा 'कामना' और हिन्दी का आधुनिक ढंग का प्रथम एकांकी 'एक घूंट' दोनों आ सकते हैं।

प्रसाद के अधिकांश नाटकों की कथावस्तु ऐतिहासिक है, फिर

भी उन्हें विशुद्ध ऐतिहासिक कोटि में नहीं रखा जा सकता। कारण कि प्रसाद जी ने अपने ऐतिहासिक नाटकों द्वारा सांस्कृतिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। उन्होंने जो ऐतिहासिक कथावस्तु ली है वह भारतीय इतिहास के संघर्ष-काल की है। भारत की आन्तरिक और बाह्य दोनों परिस्थितियों के संघर्ष की झलक उनके नाटकों में है। बौद्धों और ब्राह्मणों का संघर्ष आन्तरिक है तो यूनानी सिकन्दर और चन्द्रगुप्त का बाह्य। साथ ही स्त्री-पुरुष-पात्रों के आन्तरिक संघर्ष की भी योजना हुई है। विशेष रूप से उनके स्त्री-पात्रों का चरित्र मानसिक अन्तर्द्वन्द्व में निखर उठता है। प्रेम और सौंदर्य के कवि प्रसाद ने अपने नारी-पात्रों को दैवत्व से विभूषित किया है। त्याग, तपस्या और संयम की प्रतिमूर्ति ये नारियां प्रेम के उच्चतम आदर्श पर मर मिटती हैं और अपने प्रेम-पात्रों को समाज और देश के लिए मर मिटना सिखाती है। पुरुष-पात्रों में भी कर्तव्य-परायणता है। उनमें अपने युग की राजनीति और समाज का भी समावेश नाटककार ने बड़ी कुशलता से किया है। नाटकों में गीतों और कवित्वमय संवादों से सरस वातावरण की सृष्टि की गई है। यद्यपि ये नाटक भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-शैलियों का समन्वय करके चले हैं तथापि न इन्हें दुःखान्त कहा जा सकता है, और न सुखान्त। सुधी आलोचक इन्हें 'प्रसादान्त' कहते हैं, क्योंकि नाटक के अन्त में नायक अथवा नायिका दुःख को प्रसन्नता से अपनाते हैं।

प्रसाद के नाटकों पर अनभिनेयता का दोष लगाया जाता है; पर वे आज के नहीं, कल के नाटक हैं। प्रसाद की जीवन-दृष्टि इतनी गहरी और व्यापक थी कि वे हल्के स्तर की भाषा या संवाद (जो रंगमंचीय नाटकों में पारसी कम्पनियों के कारण प्रचलित थे) प्रस्तुत नहीं कर सकते थे। मनुष्य ज्यों-ज्यों सुसंस्कृत होता जायगा प्रसाद के नाटकों की लोकप्रियता बढ़ती जायगी। कुछ काट-छांट के बाद तो 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'ध्रुव-स्वामिनी' और 'कामना' सफलता पूर्वक खेले भी गए हैं।

प्रसाद जी ने ऐतिहासिक नाटकों की जिस परम्परा का सूत्रपात किया

उसके अन्तर्गत उस काल में कुछ नाटककारों ने नाटक लिखे, पर वे उस ऊँचाई तक न पहुँच सके। इनमें चन्द्रराज भण्डारी का 'अशोक' (१६२३), प्रेमचन्द का 'कर्बला' (१६२४), बद्रीनाथ भट्ट का 'दुर्गावती' (१६२६), जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' का 'प्रताप प्रतिज्ञा' (१६२८), वियोगी हरि का 'प्रबुद्ध-यामुन' (१६२६) प्रमुख हैं। प्रसाद की अतिभावुकता के विरोध में श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने बुद्धिवादी नाटकों का प्रारम्भ किया। इनके नाटक **समस्या-नाटक** कहे जाते हैं। उन पर आगे विचार होगा। प्रसाद के 'कामना' द्वारा **प्रतीकात्मक नाटकों** की 'प्रबोध चन्द्रोदय' वाली शैली पुनरुज्जीवित हुई थी। श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने 'ज्योत्स्ना' (१६३४) द्वारा उसे और भी पुष्ट किया। भगवतीप्रसाद वाजपेयी का 'छलना' भी सुन्दर प्रतीकात्मक नाटक है।

प्रहसनों की परम्परा भी इस काल में यथावत् चलती रही। प्रसाद-काल में सर्वाधिक प्रहसन श्री जी० पी० श्रीवास्तव ने लिखे। 'उलटफेर' (१६१८), 'दुमदार आदमी' (१६१६), 'मरदानी औरत' (१६२०) आदि उनके मौलिक प्रहसन हैं। फ्रान्सीसी हास्य-लेखक मौलियर के कई नाटकों के अनुवाद भी उन्होंने प्रस्तुत किये। इस काल के अन्य प्रहसन-लेखकों में बद्रीनाथ भट्ट ('चुंगी की उम्मीदवारी', 'विवाह विज्ञापन', 'लबड़ धौंधौं'), बेचन शर्मा उग्र ('उजबक', 'चार बेचारे'), सुदर्शन ('आनरेरी मजिस्ट्रेट'), राधेश्याम कथावाचक ('कौंसिल की मेम्बरी') आदि प्रसिद्ध हैं। इनमें भाषा के अटपटे प्रयोगों, पात्र विशेष की आदतों और अति नाटकीय दृश्यों से हास्य-व्यंजना की गई है। लेकिन भारतेन्दुकालीन और प्रसादकालीन प्रहसनों में अन्तर यह है कि जहाँ भारतेन्दुकालीन प्रह-सनों में सुधार की भावना मिलती थी वहाँ प्रसादकालीन प्रहसन केवल मनोरंजनार्थ ही लिखे गए हैं।

इस काल में **अनूदित नाटकों** की परम्परा भी चलती रही। संस्कृत के नाटकों के अनुवाद अपेक्षाकृत कम हुए। **संस्कृत** के उल्लेखनीय अनू-दित नाटक भास का 'स्वप्नवासवदत्ता' (सन् १६२६, मैथिलीशरण गुप्त),

दिङ्नाग का 'कुन्दमाला' (१९३१, हरदत्त), हर्ष का 'नागानन्द' (१९३५, हरदयालुसिंह) आदि हैं। **पाश्चात्य** नाटकों में शेक्सपीयर के अतिरिक्त अंग्रेजी के गाल्संवर्दी और जर्मनी के शिलर, और वेलजियम के मेटरलिंक के नाटकों का अनुवाद हुआ। ये अनुवाद अंग्रेजी से ही हुए हैं, मूल भाषाओं से नहीं। **बँगला** से ही सर्वाधिक अनुवाद इस युग में हुए। सबसे अधिक अनुवाद द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों के हुए और वे स्व० रूपनारायण पाण्डेय द्वारा किये गए। उनका प्रभाव भी हिन्दी के नाटकों पर विशेष रूप से पड़ा। रवि बाबू के 'डाकघर', 'चिरकुमार सभा' 'चित्रांगदा', 'व्यंग-कौतुक' आदि नाटकों का अनुवाद भी हुआ और गिरीश-चन्द्र घोष के भी कुछ नाटक हिन्दी में आये; पर द्विजेन्द्रलाल राय के अनूदित नाटकों की ही धूम रही।

प्रसाद युग के मौलिक नाटकों के शिल्प-विधान में बँगला का प्रभाव तो रहा ही, पाश्चात्य नाटकों के प्रभाव से भी उनका रूप बदला। अंकों की दृष्टि से तीन से पाँच तक अंक ही इस युग के नाटकों में मिलते हैं। चरित्र-चित्रण और भाषा का साहित्यिक प्रयोग दूसरी विशेषता है, जो इस काल के नाटकों में पाई जाती है। नारी-समस्या और युग के राज-नैतिक जीवन की छाया किसी-न-किसी रूप में प्रत्येक नाटक में मिलती है, यह इस युग के नाटकों की तीसरी विशेषता है। इस प्रकार इस युग में नाटक अन्तर्बाह्य दोनों दृष्टियों से कलात्मक उपलब्धि की ओर बढ़ते दिखाई देते हैं।

प्रसादोत्तर नाटक-साहित्य—यद्यपि प्रसाद के बाद नाट्य-क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन समस्या-नाटकों के आगमन का है, लेकिन इससे पहले जो पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा चलती रही उस पर विचार कर लेना आवश्यक है।

पौराणिक नाटक—भारतेन्दु और द्विवेदी युग में पौराणिक आदर्शों की स्थापना नाटकों में हो चुकी थी। इस युग में उनमें सामाजिक जीवन की समस्याओं का समावेश भी किया जाने लगा। प्रसादोत्तर युग के सर्व-

श्रेष्ठ पौराणिक नाटककार **श्री उदयशंकर** भट्ट हैं। उनके पौराणिक नाटकों में 'अम्बा' (१९३५), 'सगर विजय' (१९३७), 'मत्स्यगन्धा' (१९३७) और 'विश्वामित्र' (१९३८) प्रसिद्ध हैं। भट्ट जी के पौराणिक नाटकों की विशेषता यह है कि वे एक ओर तो प्राचीन काल की संस्कृति के तत्वों को समाहित करके चलते हैं और दूसरी ओर युग की समस्याओं का भी अतीतकालीन पार्श्वभूमि में समावेश कर देते हैं। उदाहरण के लिए 'अम्बा' में भीष्म, शान्तनु और शल्य पुरुषों के उसी चिरन्तन दम्भ के प्रतीक हैं, जिसके कारण नारी पुरुष की उपभोग्या मानी जाती है; परन्तु इसके विपरीत अम्बा, अम्बालिका, अम्बिका, सत्यवती अपने अधिकारों की रक्षा के लिए दृढ़प्रतिज्ञ होकर नारी की स्वतंत्रता का उद्घोष करती हैं। इसी प्रकार 'मत्स्यगन्धा' में मत्स्यगन्धा और 'विश्वमित्र' में मेनका नारी अधिकारों की पुकार लगाती हैं। 'सगर-विजय' में सगर द्वारा अपनी माता की सेवा में तल्लीनता का अनुभव करना भारत माता की सेवा की ओर संकेत करता है, जो युग की राष्ट्रीय भावना है। भट्टजी के पौराणिक नाटकों में 'मत्स्यगन्धा' और 'विश्वामित्र' श्रेष्ठ हैं। अन्य पौराणिक नाटकों में सेठ गोविन्ददास-कृत 'कर्तव्य' (१९३५) और 'कर्ण' (१९४६), उग्रजी का 'गंगा का बेटा' (१९४०), विश्वम्भरसहाय व्याकुल का 'बुद्धदेव' (१९४०), लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'नारद की वीणा' (१९४६), चतुरसेन शास्त्री का 'सीताराम' (१९३९), रामकुमार वर्मा का 'राजरानी सीता' (१९४७) आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें सेठ गोविन्ददास ने पौराणिक पात्रों को सामान्य मानव की भाँति चित्रित किया है। इनका शिल्प-विधान संस्कृत-नाटकों से अधिक मिलता है।

ऐतिहासिक नाटक—पौराणिक नाटकों की अपेक्षा ऐतिहासिक नाटकों का विशेष महत्त्व है। कारण, उनमें जीवन का यथार्थ चित्र अपेक्षाकृत अधिक सजीव मिलता है। प्रसाद ने भारतीय इतिहास के स्वर्ण-काल से कथानक चुनकर अपने ऐतिहासिक नाटकों में देश-भक्ति और

राष्ट्रीय भावनाओं को पिरो दिया था। इसके लिए उन्होंने मौर्य-काल से लेकर हर्ष तक का समय चुना था। उनके बाद के सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक नाटककार हरिकृष्ण **'प्रेमी'** ने मुगल-काल को ऐतिहासिक नाटकों की पृष्ठभूमि के लिए चुना। प्रेमी जी के नाटकों में 'हिन्दू-मुस्लिम-एकता' का स्वर प्रधान है। 'रक्षा बन्धन' (१९३७) उनका सर्वाधिक प्रसिद्ध नाटक है। उसमें कर्मवती द्वारा हुमायूँ को राखी बाँधकर मुसलमान को भी भाई बना लिया था। हुमायूँ इस घटना से मानवता-प्रेमी हो उठता है। वह हिन्दू-मुसलमान के भेद को भुला देता है। इसी प्रकार 'शिवा साधना' में शिवाजी समस्त भारत का उद्धारक बनकर सामने आता है, न कि मुसलमान-द्रोही। सन् १९४९ में भारत-विभाजन के बाद लिखे 'उद्धार' नामक नाटक में प्रेमी जी जातीय सीमाओं के भंग करने के लिए विश्व-बन्धुत्व की पुकार लगाते हैं। 'प्रतिशोध' (१९३७), 'स्वप्न भंग' (१९४०) आदि अन्य नाटकों में भी उनकी यही भावना व्यक्त हुई है। यद्यपि प्रेमी जी ने अपने ऐतिहासिक नाटकों में कल्पना द्वारा सामयिक समस्याओं को गूँथा है, पर इतिहास को विकृत नहीं किया। उनकी सबसे बड़ी विशेषता उनकी अभिनेयता है। उनकी सद्यःप्रकाशित 'साँपों की सृष्टि' का ऐतिहासिक नाटकों में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

प्रेमी जी के बाद ऐतिहासिक नाटक-लेखकों में उदयशंकर भट्ट, वृन्दावनलाल वर्मा, गोविन्दवल्लभ पन्त और सेठ गोविन्ददास के नाम उल्लेखनीय हैं। भट्ट जी ने 'विक्रमादित्य' (१९३३), 'दाहर अथवा सिन्ध पतन' (१९३४), 'शक-विजय' (१९४९) आदि ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं। भट्ट जी ने अपने नाटकों द्वारा धार्मिक कट्टरता का विरोध किया है। इनके नाटकों में संवाद बहुत लम्बे हो गए हैं। वर्मा जी के 'झाँसी की रानी' (१९४८), 'पूर्व की ओर' (१९५०) और 'बीरबल' (१९५०) प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक हैं। वर्मा जी के नाटकों में प्रसाद और प्रेमी दोनों के सम्मिलित तत्त्व मिलते हैं। गोविन्दवल्लभ पन्त के

नाटक 'राज मुकुट' (१९३५) और 'अंतःपुर का छिद्र' (१९४०) ऐतिहासिकता के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं। उनकी विशेषता उनकी अभिनेयता भी है। सेठ जी ने 'कुलीनता' (१९४०), 'हर्ष' (१९३५) और 'शशि गुप्त' (१९४५) ऐतिहासिक नाटकों की रचना की है। उनके नाटकों में बौद्धिक दृष्टि से ऐतिहासिक घटनाओं की समीक्षा मिलती है। अन्य ऐतिहासिक नाटककारों में द्वारकाप्रसाद मौर्य का 'हैदरअली' (१९३४), चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का 'अशोक' (१९३५), उपेन्द्रनाथ अश्क का 'जय-पराजय' (१९३७), सत्येन्द्र का 'मुक्ति यज्ञ' (१९३८) और मुरारीशरण मांगलिक का 'मीरा' (१९४०) श्रेष्ठ और अभिनेय नाटक हैं।

समस्या-नाटक—प्रसाद के रोमांटिक कल्पना-प्रधान नाटकों की प्रतिक्रिया के रूप में समस्या-नाटकों का जन्म हिन्दी में हुआ है। इसके प्रवर्त्तक श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र हैं। मिश्र जी को ऐसे नाटक लिखने की प्रेरणा यूरोप के प्रसिद्ध नाटककार इब्सन और शॉ से मिली। सन् १८७५ में ही इब्सन ने ऐसे नाटकों की रचना आरम्भ कर दी थी, जिसमें व्यक्ति और समाज के संघर्ष में व्यक्ति की सत्ता को महत्ता दी गई थी। बर्नार्ड शॉ ने इस परम्परा को ऐसा पुष्ट किया कि सारे संसार में मानव-जीवन की समस्याओं का बुद्धिवादी हल ढूंढने वाले समस्या-नाटकों की प्रधानता हो गई। समस्या-नाटक लेखक वैयक्तिक अथवा सामाजिक समस्याओं को गहराई से खोजकर उनके यथार्थ स्वरूप का उद्घाटन करता है और समाज के सड़े-गले आदर्शों पर प्रहार करता है। रूढ़ियों और झूठी मान्यताओं की खिल्ली उड़ाता है और नवीन मान्यताओं को ही महत्त्व देना चाहता है। इसमें बुद्धिवाद की प्रधानता रहती है।

हिन्दी में समस्या-नाटक-लेखन का कार्य सन् १९३० से प्रारम्भ हुआ और जैसा कि कहा जा चुका है, श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र उनके प्रवर्त्तक हुए। मिश्र जी ने 'संन्यासी' (१९३१), 'मुक्ति का रहस्य' (१९३२), 'राजयोग' (१९३४), 'सिंदूर की होली' (१९३४), 'आधी रात' (१९३८) आदि समस्या-नाटक लिखे हैं। इन सभी में युग की कोई-न-

कोई समस्या रखी गई है। 'संन्यासी' में सह-शिक्षा के साथ राष्ट्रीय जीवन का समावेश है, 'मुक्ति का रहस्य' में आधुनिक युग के पुरुष और नारी के बीच तीसरे व्यक्ति के आने से उत्पन्न मानसिक द्वन्द्व का चित्रण है, 'राजयोग' में विषम विवाह का प्रश्न है। 'सिन्दूर की होली' में धन-लिप्सा और उसके लिए किये गए जघन्य कार्य का वर्णन तथा एक नारी के हृदय की विशालता की झलक है। 'आधी रात' में पाश्चात्य शिक्षा-प्राप्त भारतीय नारी की समस्या है। यों कोई-न-कोई समस्या प्रत्येक नाटक में है, परन्तु प्रधानता यौन-समस्या की है। उन नाटकों के पात्र वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के फल हैं। युग की प्रमुख समस्याओं की ओर पाठक का ध्यान खींचने के कारण इन नाटकों का महत्त्व असंदिग्ध है। साथ-ही-साथ कला की दृष्टि से श्री मिश्रजी ने प्रशंसनीय कार्य किया है। एक तो ये नाटक छोटे और अभिनेय हैं। दूसरे इनमें रंगमंच-निर्देश विस्तार से मिलते हैं। तीसरे संवाद बहुत छोटे-छोटे हैं और भाषा बोल-चाल की है। चौथे गीतों और स्वगत-कथनों की अस्वाभाविक परम्परा का पूर्ण बहिष्कार है। पाँचवें बौद्धिक विश्लेषण द्वारा वे पाठक के मस्तिष्क को झकझोरते हैं। एक बात अवश्य है कि मिश्रजी का हृदय भारतीय है। अतः जो बुद्धिवाद प्रसाद की भावुकता की प्रतिक्रिया-स्वरूप आया है उसमें वह प्रखरता नहीं, जो इब्सन या शॉ में मिलती है। इधर तो उन्होंने ऐसे नाटक लिखना छोड़ भी दिया है।

मिश्रजी के बाद समस्या-नाटकों का युग प्रारम्भ हुआ और आज जो भी नाटक लिखे जाते हैं वे सब समस्या-नाटक ही होते हैं। इन समस्या-नाटकों में पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' के 'डिक्टेटर' (१९३७), 'चुम्बन' (१९३८), 'आवारा' (१९४१), गोविन्दवल्लभ पन्त का 'अंगूर की बेटी' (१९३७), सेठ गोविन्ददास के 'प्रकाश' (१९३५), 'सेवा-पथ' (१९४०), 'विकास' (१९४१), उपेन्द्रनाथ अश्क 'स्वर्ग की झलक' (१९४०), पृथ्वीनाथ शर्मा के 'दुविधा' (१९३८) और 'अपराधी' (१९३०), हरिकृष्ण 'प्रेमी' के 'छाया' (१९४१), और 'बन्धन' (१९४१),

जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' का 'समर्पण' (१९५०) आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें प्रेमी और 'मिलिन्द' यौन-समस्याओं को प्रस्तुत करते समय भी भारतीय नैतिक आदर्श की रक्षा के लिए सजग है। शेष में युग की समस्याओं का समावेश मिश्रजी की भांति ही हुआ है। नये नाटक-लेखकों में इधर श्री मोहन राकेश ने 'आषाढ का एक दिन' अत्यन्त उच्चकोटि का नाटक लिखा है।

३
एकांकी

हिन्दी में एकांकी के उद्भव के सम्बन्ध में बड़ा भारी मतभेद है। कुछ लोगों का कहना है कि नाटकों के जन्म-दाता भातेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने ही एकांकी का भी प्रारम्भ किया। डॉक्टर सत्येन्द्र ग्रौर डॉक्टर रामचरण महेन्द्र इसी मत को मानने वाले हैं। डॉक्टर नगेन्द्र ग्रौर डॉक्टर रामकुमार वर्मा इसके विपरीत उसे ग्राधुनिक मानते हैं। जो लोग ग्राधुनिक मानते हैं, उनमें भी दो दल हैं। एक का कहना है कि सन् १६२६ में प्रकाशित प्रसाद जी का 'एक घूंट' ही हिन्दी का सबसे पहला एकांकी है। दूसरा दल कहता है कि हिन्दी का पहला एकांकी 'एक घूंट' नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह एकांकी होते हुए भी संस्कृत-नाट्य-विधान को लेकर चला है। इस दूसरे दल की राय में हिन्दी का सबसे पहला एकांकी डॉक्टर रामकुमार वर्मा द्वारा लिखित 'बादल की मृत्यु' है। डॉक्टर रामचरण महेन्द्र, जो भारतेन्दु को एकांकी का जन्म-दाता मानते हैं, 'बादल की मृत्यु' के सम्बन्ध में लिखते हैं—"यह पाश्चात्य प्रभाव पहले-पहल डॉक्टर रामकुमार वर्मा के 'बादल की मृत्यु' एकांकी में प्रकट हुग्रा। वह मेटरलिंक की शैली पर रचित पाश्चात्य शैली का एक भावात्मक रूपक है। इसमें केवल कल्पना है ग्रौर इसके निर्माण में नाटककार ग्रौर कवि में समझौता हुग्रा है। ग्रन्य एकांकीकार इसी पद्धति पर चले ग्रौर पाश्चात्य शैली के सुन्दर एकांकी उपस्थित कर सके हैं" ('ग्रालोचना', नाटक-विशेषांक, पृष्ठ १५६)। हमारी सम्मति में यदि

पाश्चात्य प्रभाव ही प्रमुख हो तो भुवनेश्वर के 'कारवाँ' (१९३५) संग्रह में प्रकाशित नाटकों को ही हिन्दी-नाटक के उद्भव का आदि ग्रंथ मानना चाहिए; क्योंकि इब्सन और शॉ की बौद्धिकता और व्यंग्यपूर्ण शैली का सफलतम प्रकाशन (भले ही वह अनुकरण हो) सबसे पहले भुवनेश्वर में ही मिलता है। अतः हिन्दी के आधुनिक ढंग के एकांकी के जन्म-दाता भुवनेश्वर हैं।

लेकिन एकांकी के जन्म की कथा भी जान लेनी चाहिए। जहाँ तक संस्कृत साहित्य में एक अंक वाले नाटकों का प्रश्न है, संस्कृत साहित्य में 'भाण', 'व्यायोग', 'अंक', 'वीथी', 'गोष्ठी' और 'नाट्य-रासक' एक ही अंक के होते थे। भास का 'उरुभंग' और नील कण्ठ का 'कल्याण सौगंधिक' आदि संस्कृत के एकांकी आधुनिक एकांकी-नाटकों की ओर इशारा करते हैं। हिन्दी में भारतेन्दु बाबू ने सन् १८७३ ई० में 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति' (भाण) लिखकर संस्कृत की भास वाली परम्परा को ही पुनर्जीवित करना चाहा था। प्रहसनों की जो परम्परा भारतेन्दु बाबू से आरम्भ हुई थी वह द्विवेदी युग और प्रसाद युग में बराबर चलती चली आई। उसमें एकांकी ही अधिक मिलेंगे, यद्यपि उनकी रूपरेखा संस्कृतोन्मुख है।

अंग्रेजी में सन्तों की जीवनियों से लिये गए कथानक एकांकी के आदि-रूप माने जाते हैं। पादरी लोग धर्मोपदेश के बीच में इनका अभिनय करते थे। उनमें से सन्तों के अद्भुत धर्म-कार्यों का अभिनय प्रस्तुत करने वाले नाटक 'मिरेक्लिस' कहे जाते थे, नैतिक शिक्षा-विषयक कथानक 'मोरैलिटीज' कहलाते थे, और इनसे हटकर केवल मनोरंजन के लिए जो अभिनीत होते थे वे 'इण्टरलूड्स' कहकर पुकारे जाते थे। इन सबके प्रदर्शन में बहुत कम समय लगता था और पात्रों की संख्या एक से तीन तक रहती थी। अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी में मुख्य नाटक के आरंभ में दर्शकों के मनोरंजनार्थ या दो पात्रों के संवाद रूप में जो अभिनय किया जाता था उसे 'कर्टेन रेजर' और मुख्य नाटक के अन्त में दुःखान्त

नाटक के गंभीर प्रभाव को समाप्त करते के लिए जो अभिनय होता था उसे 'आफ्टर पीसेज' कहते थे। अंग्रेजी एकांकी इन्हींका विकसित रूप है। जैसे प्रहसन शुद्ध मनोरंजन से सामाजिक सुधार का माध्यम बन गए हैं वैसे ही अंग्रेजी नाटकों के साथ मनोरंजन के यह लघु रूप भी जीवन की गंभीर समस्याओं और बौद्धिकता के कारण आधुनिक एकांकी के रूप में बदल सकते हैं।

सारांश यह कि संस्कृत-एकांकी के विभिन्न रूपों और अंग्रेजी के मुख्य नाटक के सहायक अभिनयों में हम एकांकी के जन्म के बिन्दु देख सकते हैं, उन्हें इब्सन और बर्नार्ड शॉ के नाटकों का आदि रूप नहीं मान सकते। इन नाटककारों की दृष्टि उनसे भिन्न है, अतः हिन्दी-एकांकी को हम अंग्रेजी साहित्यिकों की देन मानते हैं।

एकांकी और नाटक—कुछ आलोचकों का मत है कि एकांकी केवल एक छोटा नाटक है या नाटक का संक्षिप्त रूप। यह भ्रम है। सच तो यह है कि इन दोनों का जन्म ही विभिन्न परिस्थितियों और दृष्टिकोणों को लेकर हुआ है। अतः यह दोनों—बड़े नाटक और छोटे नाटक—एक-दूसरे से ऐसा सम्बन्ध नहीं रखते। यह एक स्वतंत्र विधा है और बड़े नाटक की विस्तृत कथा-भूमि, पात्रों की बहुलता और विविधता आदि से उसे हम चाहे जो रूप दे सकते हैं, पर एकांकी तो छोटी-सी वस्तु है। उसमें एक ही घटना नाटकीय कौशल से कौतूहल का संचार करती हुई चरम सीमा पर पहुँचती है। उसमें थोड़ी देर में सब-कुछ कह देना पड़ता है, इसके लिए नाटक-लेखक को अपनी समस्त कलात्मक शक्ति का उपयोग करना पड़ता है और देश, काल, व्यापार आदि की एकता के अनुरूप, घटना या परिस्थिति या भावना को प्रस्तुत करने में सोच-समझकर चलना पड़ता है। कहानी की भाँति इसमें प्रभाव पर विशेष दृष्टि रखनी पड़ती है।

प्रमुख एकांकीकार—हिन्दी में सबसे पहले आधुनिक ढंग के एकांकीकार भुवनेश्वर हैं। उनके 'कारवाँ' में १—'श्यामा : एक वैवाहिक

विडम्बना', २—'एक साम्यहीन साम्यवादी', ३—'शैतान', ४—'प्रतिभा का विवाह', ३—'रोमांस-रोमांच', और ६—'लाटरी'—ये छै एकांकी हैं। इनके सभी नाटक—दूसरे को छोड़कर—प्रेम के त्रिकोण पर आधारित हैं और यह प्रेम का त्रिकोण विवाहिता युवती के लिए बना है। यह त्रिकोण हमारे यहाँ नहीं है, आज ऐसा कहना तो कठिन है; पर यहाँ पाश्चात्य प्रभाव ही अधिक है। लेखक समस्याएँ उठाकर रह जाता है, कोई समाधान नहीं देता। भुवनेश्वर के नाटक आभिजात्य वर्ग की समस्याओं से विशेष सम्बन्ध रखते हैं। उन्होंने कुछ प्रतीकात्मक एकांकी भी लिखे हैं, जिनमें 'कठ-पुतलियाँ' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यथार्थवादी चित्र देकर समाज की वीभत्सता को लक्ष्य करना उनके नाटकों का ध्येय है। व्यंग और कटुता उनकी कला में तीखापन लाने वाले अस्त्र हैं।

भुवनेश्वर के बाद दूसरे प्रमुख एकांकीकार **डॉक्टर रामकुमार वर्मा** हैं। उनका पहला नाटक 'बादल की मृत्यु' है, जो अपनी काव्यमयता और कल्पनातिरेक के कारण 'फॅटेसी' कहा गया है। डॉक्टर वर्मा ने जितने भी नाटक लिखे हैं वे सब रंगमंच पर अभिनीत होने के लिए लिखे हैं। उनके नाटक-संग्रहों के नाम हैं—१-'पृथ्वीराज की आँखें' (१६३७), २-'रेशमी टाई' (१६४१), ३-'चारुमित्रा' (१६४३), 'विभूति' (१६४३), 'सप्त किरण' (१६४७), 'रूपरंग' (१६४८), 'कौमुदी महोत्सव' (१६४६), 'ध्रुव तारिका' (१६५०), 'ऋतुराज' (१६५१), 'रजत रश्मि' (१६५२), 'दीपदान' (१६५४), 'कामकन्दला' (१६५५), 'बापू' (१६५६), 'इन्द्र धनुष (१६५७), 'रिमझिम' (१६५७) आदि। कुल मिलाकर आपके एकांकी ६० के लगभग हैं। उनके नाटकों के विषय या तो सामाजिक हैं या ऐतिहासिक। सामाजिक एकांकी मध्य वर्ग की विभिन्न समस्याओं से सम्बन्धित हैं। वे प्रगतिवादी लेखकों के विपरीत ऐसी घटना चुनते हैं जो हृदय में सहानुभूति जगाकर हमें संवेदनशील बना दे। ऐतिहासिक एकांकीकार के नाते वे सबसे बड़े कलाकार हैं। उनके

ऐतिहासिक एकांकियों की सबसे बड़ी विशेषता है प्रमुख ऐतिहासिक पात्रों के साथ गौण परन्तु ऐतिहासिक महत्त्व की दृष्टि से स्मरणीय पात्रों को उभारना। वर्मा जी के नाटकों में मनोवैज्ञानिक स्थितियों का बड़ी निपुणता के साथ अंकन होता है, जिससे अन्तर्द्वन्द्व का सफल समावेश हो जाता है। उन्होंने भारतीयता की रक्षा करते हुए पाश्चात्य ढंग के अभिनेय एकांकी लिखकर हिन्दी-एकांकी का पूर्ण विकास किया है।

श्री उदयशंकर भट्ट हिन्दी के तीसरे प्रमुख एकांकीकार हैं। भट्ट जी का सबसे पहला एकांकी-संग्रह 'अभिनव एकांकी' सन् १९४० में निकला था। तब से वे बराबर एकांकी लिखते आए हैं। उनके अन्य एकांकी-संग्रह हैं—'स्त्री का हृदय', 'समस्या का अन्त', 'कालिदास', 'आदिम युग', 'धूम शिखा' आदि। उनमें 'कालिदास' और 'आदिम युग' में पौराणिक नाटकों का संग्रह है। वस्तुतः अपने बड़े पौराणिक नाटकों की भाँति इन एकांकियों में भी भट्ट जी ने सामयिक समस्याओं की ओर संकेत किया है। भट्ट जी के सामाजिक नाटक यथार्थ को लेकर चले हैं। भट्ट जी अपने एकांकी नाटकों की कथा-वस्तु दैनिक जीवन की अपने आस-पास घटित घटनाओं से चुनते हैं और उसे ऐसा रूप देते हैं कि वह वर्तमान समाज की एक महत्त्वपूर्ण समस्या की ओर संकेत कर जाती है। डॉक्टर वर्मा की भाँति अभिनेयता का का ध्यान उन्होंने भी रखा है। वे रंगमंचीय विस्तृत सूचनाओं के कारण सुपाठ्य भी बन गए हैं।

सेठ गोविन्ददास भी हिन्दी के प्रमुख एकांकी-लेखक हैं। उनके एकांकी 'स्पर्द्धा', 'सप्तरश्मि', 'एकादशी', 'पंचभूत', 'अष्टदल' आदि संग्रहों में संगृहीत हैं। उनकी संख्या ४०-५० होगी। सेठ जी ने सामाजिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक और पौराणिक सभी प्रकार के नाटक लिखे हैं। सामाजिक एकांकियों में सामाजिक समस्याएँ तो हैं, पर गहन मनोविश्लेषण नहीं। राजनैतिक नाटकों में राजनैतिक स्वार्थों से बद्ध व्यक्तियों पर व्यंग हैं। ऐतिहासिक-पौराणिक एकांकियों के लिए प्राचीन

इतिहास या काव्य-ग्रन्थों से कथा ली गई है। टैकनीक की दृष्टि से वे 'उपक्रम' और 'उपसंहार' का प्रयोग करते हैं, जो हिन्दी के अन्य एकांकीकारों में नहीं मिलता।

सेठ जी ने मोनोड्रामा—एक पात्री नाटक—भी लिखे हैं। 'चतुष्पथ' में ऐसे एकांकी संगृहीत हैं। इस क्षेत्र में वे अद्वितीय कलाकार हैं।

हिन्दी-एकांकी को समृद्ध करने वालों में **उपेन्द्रनाथ 'अश्क'** का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अश्क जी अपने एकांकियों द्वारा मध्यवर्गीय समाज की जीर्ण-शीर्ण परम्पराओं और रूढ़ियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं और हमारे अन्तर में उनके प्रति विद्रोह का बीज बोते हैं। वे अनुभूति को सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रूप में मनोविज्ञान की सहायता से हमारे मस्तिष्क में उतार देते हैं। वे केवल समस्या खड़ी करके ही चुप नहीं रहते, उसका ऐसा विश्लेषण भी करते हैं कि जो उसके लिए हल का संकेत करता है। उन्होंने लगभग ४० एकांकी लिखे हैं, जिनमें 'लक्ष्मी का स्वागत', 'अधिकार का रक्षक', 'जौंक', 'चरवाहे', 'देवताओं की छाया में', 'खिड़की', 'तौलिये', 'अन्धी गली' आदि बहुत प्रसिद्ध हैं। रंगमंच का ज्ञान अश्क को हिन्दी-एकांकीकारों में सबसे अधिक है। रेडियो और सिनेमा के अनुभव से लाभ उठाकर उन्होंने उपयुक्त संवाद, पूर्ण रंगमंच-निर्देश और कम पात्रों से युक्त मध्यवर्गीय जीवन की झलक देने वाले सुन्दर एकांकी लिखे हैं।

अश्क के बाद **श्री विष्णु प्रभाकर** का नाम आता है। विष्णुजी ने बहुत बड़ी संख्या में एकांकी लिखे हैं। रेडियो से सम्पर्क रखने और साहित्योपजीवी कलाकार होने के कारण उन्हें बहुधा एकांकी लिखने पड़े हैं। सामाजिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक और हास्य-व्यंग-युक्त सभी प्रकार के एकांकी विष्णु जी ने लिखे हैं। विष्णुजी की एकांकी-कला के सम्बन्ध में डॉक्टर सत्येन्द्र का यह मत अक्षरशः सत्य है—"इस एकांकीकार में न तो भावुकता का अतिरेक मिलेगा, न बौद्धिक कड़वाहट, न व्यक्तिवादी अहम्मन्यता। आधुनिक व्यवस्था में मानव के रूप की प्रतिष्ठा के लिए

व्यग्र इस लेखक ने एकांकी की कला को निरुद्विग्न सुषमा से मण्डित कर दिया है·······।'' ऐसा प्रतीत होता है कि विष्णु में प्रेमचन्द का हृदय जाग्रत है। वे मनुष्य के मानवीय गुणों में विश्वास रखते हैं और उन्हींसे अभिभूत हैं। उनके प्रसिद्ध एकांकियों में 'माँ', 'भाई', 'उपचेतना का छल', 'रहमान का बेटा', 'जहाँ दया पाप है', 'नया काश्मीर' आदि प्रमुख हैं।

श्री जगदीशचन्द्र माथुर ने भी एकांकी को बड़े परिश्रम से कला-सम्पन्न बनाया है। इनके एकांकी समाज की समस्याओं को लेकर चलते हैं और उनमें गम्भीरता और व्यंग दोनों का एक सफल समावेश मिलता है। 'भोर का तारा', 'रीढ़ की हड्डी' और 'खण्डहर' इनके प्रसिद्ध एकांकी हैं। श्री माथुर ने यूरोपीय एकांकी-कला का गहन अध्ययन किया है। अभिनेता, वेश-भूषा, मंच और दर्शक के प्रति उनकी स्वस्थ दृष्टि ने नाट्य-लेखन और रंगमंच दोनों को युगानुकूल दिशा दी है।

इनके अतिरिक्त सर्व श्री **गणेशप्रसाद द्विवेदी, सद्‌गुरुशरण अवस्थी, लक्ष्मीनारायण मिश्र, हरिकृष्ण 'प्रेमी', वृन्दावनलाल वर्मा, गोविन्द-वल्लभ पन्त, पृथ्वीनाथ शर्मा, भगवती चरण वर्मा, धर्मप्रकाश आनन्द,** आदि अन्य प्रसिद्ध एकांकी-लेखक हैं।

गणेशप्रसाद द्विवेदी जो के एकांकी भुवनेश्वर की परम्परा के हैं। 'सुहाग विन्दी', 'पर्दे का अपार पार्श्व', 'सर्वस्व समर्पण' आदि एकांकियों में मनोविश्लेषण के आधार पर स्त्री-पुरुष दोनों के मन की गहराई में प्रवेश करके सूक्ष्म वृत्तियों की छान-बीन उनका काम है। इससे डॉक्टर नगेन्द्र उन्हें 'प्रेमाहत मन का कलाकार' कहते हैं। **सद्‌गुरुशरण अवस्थी** के एकांकी पठनीय अधिक होते हैं। अभिनय-कुशलता की अपेक्षा वे एकांकी को साहित्य-देवता की स्थापनार्थ अच्छा माध्यम मानते हैं। इसीलिए उनके एकांकियों में संकलनत्रय पर जितना ध्यान है उतना रंगमंच-निर्देश पर नहीं। उन्हें 'विभीषण', 'ध्रुव', 'शकुन्तला' आदि पौराणिक कथानक वाले एकांकी भी लिखे हैं। **लक्ष्मीनारायण मिश्र** जैसे बड़े नाटकों में समस्या का समावेश करके बुद्धिवादी दृष्टि से उसका

विवेचन करते हैं वैसे ही एकांकियों में भी करते हैं। वे यद्यपि बुद्धिवादी हैं, पर वास्तविकता की झौंक में भारतीय संस्कृति की उपेक्षा नहीं करते। उनकी कला में प्राचीन भारतीय संस्कृति, नवीन समस्याएँ और नवीन प्रभाव तीनों का सुखद संगम मिलता है। समस्या का समावेश अपने नाटकों में जितनी सफलता से वे करते हैं, उतना दूसरा कोई एकांकीकार नहीं करता। 'एक दिन', 'कावेरी में कमल', 'नारी का रंग' और 'स्वर्ग में विप्लव' इनके प्रसिद्ध एकांकी हैं। **हरिकृष्ण 'प्रेमी'** के एकांकी नैतिक आदर्शवाद को लेकर चलते हैं। समाज में गांधीवादी आदर्शों की स्थापना करके वे नव निर्माण चाहते हैं। फलतः उनके नाटकों में राष्ट्रीय समस्याएँ प्रमुख हैं। टैकनीक की दृष्टि से इनके एकांकी बड़े नाटकों-जैसे ही सुन्दर हैं। 'राष्ट्र-मन्दिर' और 'मान-मन्दिर' एकांकियों में क्रमशः अंग्रेजों के दमन-चक्र का चित्रण और हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य की भावना है। **वृन्दावनलाल वर्मा** यथार्थवादी होते हुए भी समाज-सुधार और नैतिक आदर्श लेकर चलने वाले हैं। 'टंटागुरू', 'कनेर' और 'काश्मीर का कांटा' उनके प्रसिद्ध एकांकी हैं। पहले में आधुनिक राजनीति की आलोचना है, दूसरे में विज्ञान और धर्म का विवेचन और तीसरे में काश्मीर के हमले के समय की स्थिति। वर्मा जी के एकांकी टैकनीक की दृष्टि से कमजोर हैं। उनमें क्लाइमैक्स नहीं है। हां, रंगमंच पर वे खेले जा सकते हैं। **गोविंदवल्लभ पंत** के एकांकी साहित्यिक होकर भी अभिनेय हैं। पात्र और घटनाओं की योजना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से करने में उन्हें विशेष सफलता मिली है। 'विष कन्या', 'अपराध मेरा ही', '१०४ डिग्री, 'दो वर और एक शाप' आपके कलापूर्ण एकांकी हैं। **पृथ्वीनाथ शर्मा** के 'वैज्ञानिक की पत्नी', 'भूल और विजय', 'दुविधा', 'सौंदर्य प्रतियोगिता' आदि एकांकियों में मूलतः यौन-समस्या है और उसके आस-पास दूसरी समस्याएं गुंथी हैं। विदेशी टैकनीक के अधुनातम विकसित रूप पर शर्मा जी का पूरा अधिकार है। **भगवती चरण वर्मा** के 'सबसे बड़ा आदमी', 'दो कलाकार', 'बुझता दीपक', 'मैं और केवल मैं'-जैसे प्रसिद्ध

एकांकियों में यथार्थवाद की कड़वाहट मिलती है। इनमें अन्तर्वाह्य संघर्ष का सफल निर्वाह हुआ है। **धर्मप्रकाश आनन्द** की प्रवृत्ति सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनैतिक मान्यताओं पर प्रहार करने की है। 'सोशलिस्ट' में कल्पना-जीवी राजनीतिज्ञों पर व्यंग है और 'सितमगर' में अलमस्त भिखारी की मानसिक स्थिति द्वारा समाज पर प्रहार। उनकी कला की विशिष्टता वाग्वैदग्ध्य में है।

बिलकुल नये एकांकीकारों में **विनोद रस्तोगी** और **सत्येन्द्र शरत्** के नाम उल्लेखनीय हैं। रस्तोगी ने 'आजादी के बाद', 'एक दृश्यीय नाटक' और 'पुरुष का पाप' एकांकी-संग्रह प्रकाशित किये हैं। वस्तु का चुनाव और समस्या का मार्मिक प्रस्तुतीकरण इनकी विशेषता है। सत्येन्द्र शरत् के 'तार के खम्भे' एकांकी-संग्रह में पाँच नाटक हैं, जिनमें 'शोहदा' नामक उनका एकांकी हिन्दी की एकांकी-कला के विकास का परिचायक है।

इनके अतिरिक्त जो नये-पुराने अनेक लेखक एकांकी लिख रहे हैं उनमें चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, रामवृक्ष बेनीपुरी, अर्जुन चौबे काश्यप, जयनाथ 'नलिन', प्रेमनारायण टण्डन तथा रावी आदि ने कुछ अच्छे एकांकी लिखे हैं। लगता है, जैसे यह युग ही एकांकी का है।

४

ध्वनि-नाटक

नाटक और एकांकी के पश्चात् ध्वनि-नाटक भी आज के युग की महत्त्वपूर्ण देन है। इसका प्रचलन रेडियो के माध्यम से ही हुआ है। यदि यह कहा जाय कि रेडियो ही वर्तमान समय में नाटक की उन्नति का प्रमुख साधन है तो अत्युक्ति न होगी। भारत के प्रत्येक रेडियो-स्टेशन से प्रति सप्ताह ४-५ नाटकों के प्रसार का औसत होगा। नाटक, जिसे प्राचीन आचार्यों ने दृश्य-काव्य माना था, रेडियो पर केवल श्रव्य होकर रह गया है। इसीसे उसे ध्वनि-नाटक कहते हैं।

ध्वनि-नाटक रंगमंचीय नाटक से अनेक बातों में भिन्न है। रंगमंचीय नाटक श्रव्य भी है, और दृश्य भी। दृश्य-नाटक में आंगिक और वाचिक अभिनय की प्रधानता रहती है और वातावरण तथा परिस्थिति को व्यक्त करने वाले पर्दे इत्यादि के साधन रहते हैं। पात्र भी अपनी वेश-भूषा तथा मुद्राओं से भावाभिव्यक्ति करने में समर्थ रहते हैं, लेकिन ध्वनि-नाटक में ये बातें नहीं होतीं। ध्वनि-नाटक में तो श्रोताओं की ही मनःस्थिति का ध्यान रखना पड़ता है और बन्द कमरे में, सैंकड़ों-हजारों मील दूर से, उसे ऐसे प्रस्तुत किया जा सकता है। जो श्रोताओं को कल्पना द्वारा प्रत्यक्ष हो सके। उसमें काल-संकलन का भी ध्यान नहीं रखा जा सकता, वह तो प्रभाव पर ही केन्द्रित रहता है। श्रव्य-मात्र होने से उसमें मनोविज्ञान की गहराई का सहज ही समावेश हो जाता है। फिर रंगमंच पर जिन दृश्यों का प्रदर्शन प्रायः

असंभव है उनको ध्वनि के प्रभाव और वर्णन द्वारा ध्वनि-नाटक में सहज ही व्यक्त किया जा सकता है।

ध्वनि-नाटक और एकांकी में भी अन्तर है। ध्वनि-नाटक संक्षिप्त होता है और पन्द्रह मिनट से एक घण्टे तक के लिए लिखा जाता है। लोगों ने इसकी संक्षिप्तता के कारण ही इसे एकांकी समझ लिया है, जो भ्रमात्मक है। वस्तुतः ध्वनि-नाटक में अंक का प्रश्न ही नहीं, उसमें तो एक दृश्य भी हो सकता है और अनेक भी। वे दृश्य भी दो पंक्तियों से सौ पंक्तियों तक के हो सकते हैं। पांच अंकीय नाटक को भी ध्वनि-नाटक बनाकर प्रसारित किया जा सकता है। इसलिए उसे ध्वनि-नाटक या ध्वनि-एकांकी कहना गलत है।

ध्वनि-नाटक श्रव्य होने से ध्वनि पर आधारित रहता है। एक ही शब्द को उच्चारण की विभिन्नता से प्रेम, घृणा, क्रोध, ग्लानि आदि कई भावों का व्यंजक बनाया जा सकता है। ध्वनि-नाटक में ध्वनि का प्रयोग तीन रूपों में होता है—भाषा, ध्वनि-प्रभाव और संगीत। **भाषा** का वही रूप ध्वनि-नाटक में ग्राह्य है, जो बोलने और सुनने के अनुकूल होता है। रंगमंच पर भाव-भंगिमा की सहायता से किसी भी प्रकार की भाषा चल जाती है, पर ध्वनि-नाटक में नहीं। **ध्वनि-प्रभाव** से मतलब रेल, तूफ़ान, रथ, टेलीफोन आदि की उन ध्वनियों से है जो वातावरण प्रस्तुत करने के लिए उपस्थित की जाती हैं। **संगीत** भी वातावरण-निर्माण और दृश्यान्तर या देशकाल-परिचय के लिए आवश्यक होता है। रेडियो-नाटककार को इन तीनों बातों पर ध्यान रखकर ही नाटक लिखना पड़ता है।

ध्वनि-नाटक का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। कहा जाता है कि सबसे पहले ध्वनि-नाटक सन् १९३६ में आकाशवाणी के दिल्ली-केन्द्र से प्रसारित हुआ था और वह भी बंगला-नाटक का अनुवाद था। रेडियो की स्थापना से पहले ही बंगाल में नाटक-प्रसारण का काम प्रारम्भ हो चुका था। प्रारम्भ में रंगमंचीय नाटक ही ध्वनि-नाटक बनकर प्रसारित होते थे;

अतः केवल रेडियो को ध्यान में रखकर बहुत कम नाटक लिखे गए। कुछ नाटक-लेखकों ने अवश्य ऐसे नाटक लिखे, जो रंगमंचीय होने पर भी रेडियो पर सफल हुए। उनमें सर्वश्री रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशंकर भट्ट, जगदीशचन्द्र माथुर आदि प्रमुख हैं। कहा जाता है कि ध्वनि-नाटक में विस्तार की अपेक्षा गहराई का महत्त्व है और वह काव्य का गुण है। अतः जब कवि ध्वनि-नाटक लिखेगा तो वह अवश्य सफल होगा। इसीलिए उक्त लेखकों के नाटक सफल हुए। कुछ लेखकों ने तो केवल रेडियो के कारण ही नाटक-प्रणयन प्रारम्भ किया है। उनमें सर्वश्री विष्णु प्रभाकर, हरिश्चन्द्र खन्ना ,अमृतलाल नागर आदि उल्लेखनीय हैं।

अब तक रेडियो-शिल्प की दृष्टि से जिन सफल नाटकों का प्रसार रेडियो से हुआ है उनके नाम हैं—रामकुमार वर्मा के 'दुर्गावती', 'स्वर्ग श्री', 'तैमूर की हार' और 'ध्रुव तारिका'; 'अश्क' के 'शिकारी', 'लक्ष्मी का स्वागत', 'छठा बेटा', 'अंजो दीदी', 'पापी' और 'बतसिया'; विष्णु प्रभाकर के 'जहाँ दया पाप है', 'उपचेतना का छल' और 'क्या वह दोषी था'; हरिश्चन्द्र खन्ना के 'मुक्ति के पथ पर' और 'राख और कलियाँ'; जयनाथ 'नलिन' का 'संवेदना-सदन' और 'लाटरी'; अन्य प्रमुख ध्वनि-नाटक-लेखकों के नाम ये हैं—रामचन्द्र तिवारी, लक्ष्मीनारायण लाल, प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त', राधाकृष्ण, राधाकृष्ण प्रसाद, विश्वम्भर 'मानव', प्रभाकर माचवे, भारत-भूषण अग्रवाल, चिरंजीत, कैलाशचन्द्रदेव बृहस्पति, धर्मवीर 'भारती', देवराज 'दिनेश', रामवृक्ष बेनीपुरी, हंसकुमार तिवारी, शिवसागर मिश्र, सत्येन्द्र शरत् तथा राजाराम शास्त्री आदि।

ध्वनि-नाटक के साथ रेडियो पर प्रसारित नाट्य-रचनाओं के और भी कई रूप हैं। जैसे १—रेडियो-रूपक २—रेडियो-रूपान्तर ३—रेडियो-फैंटेसी, ४—मोनोलॉग, ५—संगीत-रूपक, ६—झलकियाँ।

रेडियो-रूपक—अंग्रेजी 'रेडियो फीचर' के लिए 'रेडियो-रूपक' शब्द

प्रयुक्त होता है। लोग यह समझते हैं कि जिनमें 'नैरेटर' या प्रवक्ता होता है वही रेडियो-रूपक होते हैं। लेकिन यह धारणा ठीक नहीं हैं। वस्तुतः रेडियो-रूपक की विशेषता है वास्तविकता का प्रस्तुतीकरण। इसमें सभी विषयों का समावेश हो सकता है। देश-परदेश के लोगों की सभ्यता और संस्कृति, महापुरुषों का जीवन, संस्थाओं का इतिहास, आविष्कारों का परिचय आदि। रेडियो-रूपक का उद्देश्य शिक्षात्मक एवं सूचनात्मक होता है। इसमें सामग्री का संकलन ऐसे किया जाता है कि श्रोता प्रभावित हो उठे।

रेडियो-रूपान्तर—इसके दो भेद हैं—१-रंगमंचीय नाटकों का रेडियो-रूपान्तर और २-कहानी अथवा उपन्यास का रूपान्तर। इसमें अभिव्यक्ति का प्रकार और माध्यम बदल जाते हैं। प्रभावोत्पादकता के लिए रंगमंचीय नाटक, उपन्यास और कहानी को रेडियो-माध्यम के अनुकूल बना लेते हैं। इसके द्वारा प्रसिद्ध लेखकों की कहानियों एवं उपन्यासों का अल्प समय में ही रसास्वादन किया जा सकता है। संस्कृत, अंग्रेजी और हिन्दी की प्रसिद्ध-प्रसिद्ध रचनाएँ रेडियो-रूपान्तर द्वारा श्रोताओं को सुलभ हो चुकी हैं।

रेडियो-फेंटेसी—रेडियो फेंटेसी रेडियो-नाटक की ही तरह होती है। दोनों की टेकनीक में भी समानता है। अन्तर यह है कि फेंटेसी में कल्पना का आधिक्य रहता है और वे अलौकिक अथवा मानवेतर पात्रों को उपस्थित करती हैं। यह कार्य संगीत और ध्वनि-प्रभाव द्वारा किया जाता है। गिरिजाकुमार माथुर, सिद्धनाथ कुमार और रामचन्द्र तिवारी ने अच्छी फेंटेसियाँ लिखी हैं।

मोनोलॉग—इस अंग्रेजी शब्द का अर्थ है वह नाटक या नाटक का अंश, जिसमें केवल एक पात्र बोलता है। इसे 'स्वगत-नाट्य' या 'स्वोक्ति-नाटक' भी कहा जाता है। इसमें संवाद नहीं होता। प्रारम्भ से अन्त तक केवल एक ही पात्र बोलता रहता है। ध्वनि-प्रभाव और संगीत से मोनोलॉग को प्रभावोत्पादक बनाया जाता है और बोलने में गति की तीव्रता या

मंदता से एकरसता दूर की जाती है। विष्णु प्रभाकर ने 'मड़क', 'धुआँ' और 'नहीं नहीं' आदि प्रसिद्ध मोनोलॉग लिखे हैं। भृंग तुपकरी ने भी अच्छे मोनोलॉग लिखे हैं।

संगीत-रूपक—रेडियो ने काव्य-नाटक की भाँति संगीत-रूपक को भी समृद्ध किया है। अनेक कवियों ने ऋतु-पर्व आदि से सम्बन्धित संगीत-रूपक लिखे हैं। ये संगीत-रूपक अपने छोटे-छोटे गीतों से बड़े आकर्षक हो जाते हैं। सर्वश्री सुमित्रानन्दन पंत, उदयशंकर भट्ट, भगवतीचरण वर्मा, गिरिजाकुमार माथुर, नरेश मेहता, सिद्धनाथ कुमार, धर्मवीर भारती आदि ने अच्छे संगीत-रूपक लिखे हैं।

झलकियाँ—रेडियो पर हास्य-व्यंग का समावेश झलकियों द्वारा हुआ है। 'इन्द्रधनुष', 'लहर' आदि नाम भी इस प्रकार की रचनाओं के लिए प्रचलित हैं। इसमें पाँच-पाँच, छः-छः मिनट की छोटी-छोटी नाटिकाओं के संकलन किये जाते हैं। चिरंजीत सर्वश्रेष्ठ झलकी-लेखक हैं। प्रभाकर माचवे और मदनमोहन खन्ना ने भी अच्छी झलकियाँ लिखी हैं।

इस प्रकार ध्वनि-नाटक तथा उसके अन्य प्रकारों से हम रेडियो द्वारा जीवन की अभिव्यक्ति प्राप्त करते हैं। न जाने अभी हमें और भी कितनी उपयोगी रचनाएँ इस माध्यम से मिलेंगी। इसका भविष्य बहुत उज्ज्वल है।

५
उपन्यास

हिन्दी-उपन्यास का जन्म भी गद्य-साहित्य की अन्य विधाओं की भाँति आधुनिक युग की देन है। यों तो कथा-कहानी की प्रवृत्ति मनुष्य अपने जन्म-काल से लेकर आया है और भले ही प्रारंभ में, मुद्रण-यंत्र के अभाव में, स्मरण रखने की सुविधा के कारण, उसने पद्य में ही बाइबिल, कुरान, वेद, रामायण और महाभारत की रचना की हो, इन ग्रंथों का महत्त्व जितना उनमें निहित धार्मिक उपदेशों के कारण है उससे कहीं अधिक उनमें बिखरी हुई उन कहानियों के कारण भी है, जो जीवन की विविध समस्याओं का समाधान करती हैं। हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक उग्र ने तो एक बार महाभारत को विश्व का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास कहकर उसके कथा-विन्यास को बेजोड़ बतलाया था। इन ग्रंथों के अतिरिक्त संस्कृत में 'बृहत् कथा मंजरी', 'कथा सरित्सागर', 'बैताल पंच-विंशतिका', 'शुक सप्तति', 'सिंहासन द्वात्रिंशका', 'पंचतंत्र', 'हितो-पदेश' आदि में भारतीय कथा-साहित्य के बीज मिलते हैं। बाणभट्ट की 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' में भारतीय कथा-साहित्य का परिष्कृत रूप मिलता है।

इसके अतिरिक्त लोक में प्रचलित अनेक कथाएँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी जनता के कौतूहल को शान्त करती आई हैं। मुगल-दरबारों में शायरों की तरह किस्सागो भी रहते थे, जो नाना प्रकार की कहानियाँ सुनाकर अपने आश्रयदाताओं का मनोरंजन किया करते थे। कालिदास ने बहुत

पहले 'उदयन कथा कोविद ग्राम वृद्ध' लिखकर मुगल-दरबारों के इस किस्सागो-वर्ग के पूर्वजों की ओर ही संकेत किया है। इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' ऐसी ही लोक-प्रचलित कहानियों के आधार पर खड़ी है। मौखिक रूप से जीवित उन कहानियों में से अनेक प्रेस की सुविधा के कारण 'गुलबकावली', छबीली भटियारिन', 'सारंगा सदा वृक्ष', 'किस्सा तोता मैना', 'किस्सा साड़े तीन यार', 'चार दरवेश', 'बागोबहार', 'किस्सा हातिमताई', 'दास्तान अमीर हमजा', 'तिलस्म होशरुबा' आदि के रूप में हिन्दी-उर्दू के बाने में सजकर मिलने लगीं और इन्होंने जनता का वैसा ही मनोरंजन किया, जैसा बाणभट्ट की साहित्यिक रचनाओं ने शिक्षित व्यक्तियों का किया था। सारांश यह कि साहित्यिक और लोक-प्रचलित कथाएँ बराबर जनता के जीवन का अंग रही हैं और आधुनिक कथा-साहित्य उन्हींका वंशज है, अन्तर यह है कि जहाँ पुरानी कथाओं और आख्यायिकाओं में कथा-सूत्र के बहाने उपमाओं, रूपकों, दीपकों, और श्लेषों की छटा और सरस पदावली का प्राचुर्य रहता था अथवा अद्भुत तत्त्व का असंभव की सीमाओं को स्पर्श करने वाला समावेश रहता था वहाँ आधुनिक कथा-साहित्य में निराडम्बर भाषा-शैली का चित्र रहता है।

उपन्यास अंग्रेजी 'नॉविल' का हिन्दी-रूपान्तर है। यूरोप में जब आदर्शात्मक प्रेम या रोमांचपूर्ण (Adventure) पद्य-कथाओं के समक्ष रखने के लिए वास्तविक जीवन की विषमताओं का चित्रण करने वाली गद्य-कथाएँ लिखी गईं तो उन्हें 'नोवॉस' कहा गया। उन्हें बोकासियों और उसके समकालीनों ने 'नॉवेला' कहकर पुकारा। एलिजाबेथ के समय में उन रचनाओं को 'नॉविल' नाम दिया गया। इस प्रकार 'नॉविल' का जन्म ही यथार्थ चित्रण के लिए हुआ है। वह गद्य में मानव-जीवन की यथार्थ गाथा है। उसके स्वरूप के सम्बन्ध में राल्फ फॉक्स का यह कहना अक्षरशः सत्य है—"**उपन्यास गद्य में लिखी गई कथा-मात्र नहीं है, वह मनुष्य के जीवन का गद्य है। उपन्यास**

वह प्रथम कला-रूप है, जो समग्र मनुष्य को समझने और अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है।" ('उपन्यास और जनता', पृष्ठ २०) प्रेमचन्द की यह सम्मति भी राल्फ फॉक्स से मिलती है—"मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों का खोलना ही उपन्यास का मूल लक्ष्य है।" ('उपन्यास', पृष्ठ ४५)। मानव-चरित्र पर आधारित यह साहित्यिक विधा आधुनिक काल में महाकाव्य का स्थान ले चुकी है।

हिन्दी में यों तो गद्य के प्रचार के साथ-ही-साथ कथा-कहानी का लेखन भी प्रारंभ हो गया था और इंशा अल्लाखाँ की 'रानी केतकी की कहानी' के अतिरिक्त लल्लूलाल की 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पच्चीसी', 'माधवानल काम-कंदला' और 'प्रेम सागर', सदल मिश्र का 'नासिकेतोपाख्यान' आदि कृतियाँ प्रकाश में आ चुकी थीं, लेकिन ये कहानियाँ उपन्यास नहीं हैं; क्योंकि इनका सम्बन्ध जीवन के यथार्थ से नहीं है। जीवन के यथार्थ का चित्रण भारतेन्दु-युग में हुआ। उनके युग में हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास लाला श्रीनिवासदास-कृत 'परीक्षा गुरु' (सन् १८८२) है, जिसमें युग की सामाजिक दशा का यथार्थ चित्र अंकित हुआ है। लेकिन आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल पं० श्रद्धाराम फिल्लौरी-कृत 'भाग्यवती' (सन् १८७७) को पहला उपन्यास मानते हैं; जिसकी रचना स्त्रियों को गृहस्थ-धर्म की शिक्षा देने के लिए हुई थी। कुछ लोग मुंशी ईश्वरीप्रसाद और मुंशी कल्याणराय द्वारा लिखित 'वामा शिक्षक' (सन् १८७२) को हिन्दी का प्रथम उपन्यास कहते हैं, जो हिन्दुओं या आर्य लड़कियों को पढ़ाने के लिए लिखा गया था। भारतेन्दु द्वारा मराठी से अनुवाद कराये गए 'पूर्ण प्रकाश चन्द्रप्रभा' को भी हिन्दी का प्रथम उपन्यास होने का गौरव दिया जाता है। लेकिन 'भाग्यवती', 'वामा शिक्षक', आदि' रानी केतकी की कहानी' या 'नासिकेतो पाख्यान' की भाँति कथा-साहित्य की परम्परा का आभास-मात्र देते हैं। वे 'परीक्षा गुरु' की भाँति आधुनिक अर्थ में व्यवहृत 'उपन्यास' शब्द की परिधि में आने

वाली रचना का स्वरूप प्रस्तुत नहीं करते। अतः आधुनिक ढंग का हिन्दी का पहला उपन्यास 'परीक्षा गुरु' ही है।

'परीक्षा गुरु' में अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त मध्यवर्ग की बुराइयों में जकड़े हुए एक व्यापारी का चित्र है, जो एक हितैषी मित्र की सहायता से पतन के गर्त से निकलता है। इस उपन्यास में नवीन और प्राचीन विचारों का संघर्ष भली भाँति प्रदर्शित किया गया है। लेखक ने इसकी रचना के सम्बन्ध में स्वयं निवेदन में लिखा है—"**इस पुस्तक के रचने में मुझे महाभारतादि संस्कृत, गुलिस्ताँ वगैरह फारसी, स्पेक्टेटर, लार्ड बेकन, गोल्डस्मिथ, विलियम कूपर आदि के पुराने लेखों और 'स्त्री बोध' आदि के वर्तमान रिसालों से बड़ी सहायता मिली है।**"

इससे स्पष्ट है कि हिन्दी, उर्दू, फारसी, संस्कृत, अंग्रेजी आदि सभी भाषाओं के प्रभाव को लेकर इस उपन्यास का सृजन हुआ है। देश की दुर्दशा के प्रति जागरूकता इसकी सबसे बड़ी विशेषता है।

सामाजिक और नैतिक उत्थान के उद्देश्य से लिखे जाने वाले उपन्यासों की जो परम्परा 'परीक्षा गुरु' से चली उसमें योग देने वालों में सर्वश्री पं० बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्णदास, अयोध्यासिंह उपाध्याय, लज्जाराम मेहता आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'नूतन ब्रह्मचारी' (१८८६) और 'सौ अजान एक सुजान' (१८९१) दो उपन्यासों की रचना की। पहले में एक युवक के सदाचरण द्वारा एक डाकू का सुधार और दूसरे में दो धनी व्यापारियों की कुसंगति से पतन और एक मित्र की सहायता से उद्धार की कथा है। दूसरे की कथा 'परीक्षा गुरु' से मिलती-जुलती है, परन्तु उसका गठन उससे सुन्दर है और भाषा पात्रानुकूल। राधाकृष्ण दास के 'निःसहाय हिन्दू' (१८९०) में दो मित्रों द्वारा गो-वध के विरुद्ध आन्दोलन का चित्र है, जिसमें एक मुसलमान भी साथ देता है। यों राष्ट्रीय एकता का तत्त्व इसमें प्रधान है। इसकी भाषा प्रांजल और सुगठित है। श्री 'हरिऔध' ने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला

फूल' दो उपन्यास लिखे हैं। पहले में ठेठ भाषा की छटा ही नहीं, अनमेल विवाह का दुष्परिणाम भी दिखाया गया है। दूसरे में ग्राम्य जनता के अन्ध-विश्वासों का चित्रण है। लज्जाराम मेहता ने संख्या की दृष्टि से अपने पूर्ववर्ती इन सभी उपन्यास-लेखकों से अधिक उपन्यास लिखे हैं। 'धूर्त रसिक लाल', 'स्वतंत्र रमा परतंत्र लक्ष्मी', 'आदर्श दम्पति', 'बिगड़े का सुधार', 'आदर्श हिन्दू' आदि उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। अपने नाम के अनुकूल इनमें सुधार की भावना प्रधान है। इनके अतिरिक्त ठाकुर जगमोहनसिंह का 'श्यामा स्वप्न' (१८८५) और अम्बिकादत्त व्यास का 'आश्चर्य वृत्तान्त' (१८९३) उपन्यास संस्कृत-कथा-आख्यायिकाओं की परम्परा में लिखे गए। भाषा की सजावट, प्रकृति के कवित्वपूर्ण चित्र और भावावेश के कारण ये काव्यात्मक तो हो गए हैं, पर यथार्थ से दूर होने और कथावस्तु के शैथिल्य से श्रीनिवासदास तथा राधाकृष्ण दास की सामाजिक यथार्थ वाली धारा से ये अलग जा पड़े हैं।

सन् १८८२ में प्रकाशित 'परीक्षा गुरु' द्वारा समाज-सुधार और नैतिक उत्थान के उद्देश्य को लेकर लिखे जाने वाले उपन्यासों की परम्परा बहुत दूर तक चली, पर जब वह विकास के बिन्दु को छूने लगी तभी उसकी गति अवरुद्ध करने के लिए देवकीनन्दन खत्री (सन् १८६१-१९१३) के तिलस्मी और अय्यारी के उपन्यास सामने आ गए। ये उपन्यास केवल जन-रुचि को सन्तुष्ट करने के लिए लिखे गए थे। उनका 'चन्द्रकान्ता' (१८९२) उपन्यास हिन्दी-साहित्य में नई दिशा की ओर संकेत करता है। इसके चार भाग हैं। उसके साथ ही 'चंद्रकान्ता सन्तति' (२४ भाग), 'नरेन्द्र मोहिनी' (४ भाग) और 'भूतनाथ' (१८ भाग) उनके अन्य तिलस्मी और अय्यारी के उपन्यास हैं। इन उपन्यासों में कल्पना की दौड़ और अतिप्राकृत प्रसंगों की अवतारणा के कारण पाठकों के मनोरंजन की यथेष्ट सामग्री है। ये इतने रोचक हैं कि केवल उनको पढ़ने के लिए ही अनेक उर्दू जानने वालों ने हिन्दी सीखी।

इन उपन्यासों की कथावस्तु प्रायः एक-जैसी है। कोई सुन्दर और वीर राजकुमार किसी सुन्दरी को प्रत्यक्ष, स्वप्न में, या चित्र में देखकर मुग्ध हो जाता है अथवा उसकी कीर्ति-श्रवण-गत होने से उसके लिए विकल हो जाता है। यही दशा राजकुमारी की भी होती है। अय्यार एक-दूसरे को मिलाने का प्रयत्न करते हैं। ये अय्यार वे हरफनमौला होते थे। ये रूप वदलने, वहुत-सी दवाओं की जानकारी रखने, गाने-बजाने, दौड़ने, शस्त्र चलाने, जासूसों की देख-भाल करने आदि की बातें जानते थे। जब राजाओं में लड़ाई होती थी तब अपनी चालाकी से विना खून गिराये लड़ाई खत्म करा देते थे।

अय्यारों के साथ ही तिलस्म इनकी दूसरी विशेषता है। डॉक्टर श्रीकृष्णलाल ने तिलस्म के बारे में लिखा है—"**तिलस्म का भाव हिन्दी में फारसी की कहानियों में आया। 'अलीबाबा और चालीस चोर' की कहानी में जब अलीबाबा कहता है, 'खुलजा सिमसिम' तब एक सुरंग-सी खुल जाती है और एक बन्द तहखाना दिखाई देता है। और 'बन्द हो जा सिमसिम' कहने पर उसी प्रकार बन्द हो जाता है। मानो वहाँ पृथ्वी को छोड़कर और कुछ था ही नहीं। इसीको तिलस्म कहते हैं और फारसी कहानियों में इसका प्रायः उपयोग किया जाता है। यह फारसी से उर्दू में आया और अमीर हमजा ने अनेक तिलस्म उपन्यास लिखे, जिनमें अद्भुत तिलस्मों की सृष्टि की गई। देवकीनन्दन खत्री ने उर्दू से लेकर हिन्दी में तिलस्मों का प्रयोग किया, परन्तु अपनी अद्भुत सिमसिम, कल्पना-शक्ति और प्रतिभा के बल से उनमें इतना कौशल और कवित्व भर दिया कि वे उर्दू और फारसी के तिलस्मों से कहीं अधिक अद्भुत और आकर्षक बन गए।**"('आधुनिक हिन्दी साहित्य', पृष्ठ २९२-२९३)।

अय्यारी और तिलस्मी उपन्यासों की रचना देवकीनन्दन खत्री ने इतने कौशल से की कि अन्य किसी को ऐसे उपन्यास लिखने का साहस न हुआ। हाँ, उनके पुत्र दुर्गाप्रसाद खत्री ने ही इस विषय में कुछ महत्त्व-

पूर्ण कार्य किया। दुर्गाप्रसाद खत्री ने पहले तो अपने पिता के अधूरे छोड़े उपन्यास 'भूतनाथ' को पूरा किया और फिर 'लाल पंजा', 'प्रतिशोध', 'रक्तमण्डल' और 'सफेद शैतान'-जैसे साहसिक उपन्यास लिखे। इन उपन्यासों के अधिकांश पात्र डकैत हैं, जो साहसपूर्ण डकैतियाँ डालते हैं। इनका उद्देश्य शुभ है, क्योंकि इनके पात्र उन वीरों के पूर्वज हैं; जो आगे चलकर समस्त एशिया को विदेशी साम्राज्यवाद से मुक्त करना चाहते हैं। इनमें अंग्रेजों के प्रति घृणा व्यक्त की गई है और अंग्रेजी साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने के लिए रियासतों के संगठन की सम्भावना पर जोर दिया गया है। यहाँ अय्यार के स्थान पर जासूस हैं और लखलखा तथा अय्यारी के बटुए के स्थान पर "मृत्यु-किरण, अलोपी वायुयान, एटमी बन्दूक और विषैली गैस' हैं, जो अंग्रेजों और उनके पिट्ठू राजा-नवाबों के मन में आतंक पैदा करती हैं। दुर्गाप्रसाद खत्री के बाद इस प्रकार के जितने उपन्यास लिखे गए उन पर रेनाल्ड्स तथा अन्य उपन्यासकारों के रहस्यमय उपन्यासों की छाया है और उनके षड्यंत्रकारी कांचन तथा कामिनी के हेय ध्येय के लिए हत्या अथवा डाके का सहारा लेते हैं।

जब जनता में साहसिक उपन्यासों के प्रति आकर्षण बढ़ा तो गोपालराम गहमरी ने उसी शैली पर जासूसी उपन्यास लिखे। उन्होंने 'जासूस' और 'गुप्तकथा'-जैसे जासूसी पत्र भी निकाले। उन्होंने लगभग १५० जासूसी उपन्यास लिखे। जिनमें 'बेकसूर की फाँसी', 'खूनी कौन है ?', 'जासूस की भूल', 'गेरुआ बाबा', 'मेम की लाश', 'अद्भुत खून', 'जाली बीबी,' 'जासूस की अय्यारी' आदि उल्लेखनीय हैं। सन् १८९८ में गहमरी जी ने नगेन्द्रनाथ गुप्त के बंगला-उपन्यास 'हीरारमूल्य शेखर धूली' का अनुवाद 'हीरे का मोल' नाम से प्रकाशित कराया, जिसे पाठकों ने बहुत पसन्द किया और उन्होंने जासूसी उपन्यास लिखना प्रारम्भ कर दिया। जासूसी उपन्यास अय्यारी, तिलस्मी और साहसिक उपन्यासों से कुछ भिन्न होते हैं। अय्यारी-तिलस्मी उपन्यासों में घटनाओं की गति आगे की ओर होती है और एक घटना दूसरी से स्वाभाविकता से जुड़ी रहती है पर जासूसी

उपन्यासों में किसी हत्या, चोरी या अन्य अपराध का पता वैज्ञानिक सूक्ष्मता से लगाया जाता है, जिससे घटनाएं पीछे की ओर गतिशील हो जाती हैं। जासूसी उपन्यासों की कथावस्तु तो साहसिक उपन्यासों की भाँति डकैती या हत्या से सम्बद्ध रहती है, पर साहसिक उपन्यास के अय्यारी-तिलस्मी उपन्यासों की सन्तान होने से उनकी घटनाओं की गति आगे की ओर होती है। यहाँ अय्यार और तिलस्म के स्थान पर जासूस आ गए हैं। बस यही अन्तर है।

इन उपन्यासों की दो-तीन मुख्य विशेषताएँ हैं। एक तो इनमें कल्पना की अपेक्षा बुद्धि-तत्त्व को महत्त्व मिला है, क्योंकि घटनाओं का जैसा क्रम अपेक्षित है वह बिना बुद्धि के कोरी कल्पना से संभव नहीं। दूसरी विशेषता यह है कि इनमें पात्रों के चरित्र-चित्रण को भी कुछ स्थान मिला है, क्योंकि घटनाओं के रहस्य का पता लगाने में पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का प्रकाशन होता है। इन उपन्यासों की तीसरी विशेषता यह है कि ये लेखक की भाँति पाठकों को भी अपनी बुद्धि के उपयोग का अवसर देते हैं और चोरी-हत्या आदि रहस्यमयी घटनाओं के उचित अध्ययन की प्रवृत्ति भी पैदा करते हैं।

गहमरी जी के बाद अन्य कितने ही लेखक जासूसी उपन्यासों की ओर मुड़े, पर उन्हें सफलता नहीं मिली। गोपालराम गहमरी के बाद हिन्दी-उपन्यास के आकाश में एक ऐसे नक्षत्र का उदय हुआ, जिसने अपनी प्रतिभा के प्रकाश से अब तक चली आती समस्त औपन्यासिक प्रवृत्तियों को स्वायत्त कर लिया। इस उपन्यासकार का नाम किशोरी-लाल गोस्वामी (१८६०–१६३२) है।

गोस्वामी जी उपन्यास की परम्परा को संस्कृत की 'कादम्बरी', 'वासवदत्ता', 'दशकुमार चरित' आदि से जोड़ते थे और उसे 'प्रेमका विज्ञान' मानते थे। 'सुखशर्वरी' के 'निदर्शन' में उन्होंने लिखा है—**"जो बात झूठ-सच से नहीं होती, तंत्र-मंत्र-यंत्र से नहीं बनतीं वह प्रेम के विज्ञान उपन्यास से सिद्ध होती है।"** गोस्वामी जी ने साहसिक, तिलस्मी, जासूसी,

ऐतिहासिक आदि सभी प्रकार के उपन्यास लिखे हैं। गोस्वामी जी के सामाजिक उपन्यासों पर बंगला का प्रभाव स्पष्ट है। उनमें कुछ अनूदित हैं और कुछ बंगला-उपन्यासों की छाया लेकर लिखे गए हैं। गोस्वामी जी ने सब मिलाकर साठ-पेंसठ उपन्यास लिखे, जिनमें 'तारा', 'चपला', 'तरुण तपस्विनी', 'रजिया बेगम', 'लवंग लता', 'हृदय हारिणी', 'हीराबाई' आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। उनके सभी उपन्यास सुखान्त हैं। वस्तुतः वे सच्चरित्र और धर्म-प्राण पात्र का अन्त दुःखमय नहीं दिखाना चाहते, इसीलिए बँगला के दुःखान्त उपन्यासों को भी हिन्दी में लाते समय उन्होंने सुखान्त कर दिया है। यद्यपि इनके पात्रों में वैविध्य नहीं है तथापि पहले के उपन्यासकारों की अपेक्षा उनकी संवाद-योजना और दृश्य-चित्रण सुन्दर हैं।

गोस्वामी जी के तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों में तो प्रेम-कथा का विस्तार कर देने के अतिरिक्त और कोई विशेषता नहीं है, पर हिन्दी में मौलिक ऐतिहासिक उपन्यासों के जन्मदाता वे ही हैं। उन्होंने 'तारा' (१६०८), 'कानन कुसुम' (१६०३), 'मल्लिका देवी' (१६०५) आदि ऐतिहासिक उपन्यास लिखकर ऐतिहासिक उपन्यासों का श्री गणेश किया।

उनके सभी प्रकार के उपन्यासों में रीतिकालीन शृंगारी प्रेम की छाया इतनी गहरी है कि वे कहीं-कहीं अश्लील हो गए हैं। इन उपन्यासों की भाषा पात्रानुकूल होती है। पहले ये संस्कृत-निष्ठ हिन्दी लिखते थे, पर पीछे चलकर ये अरबी-फारसी-मिश्रित भाषा की ओर बुरी तरह झुक गए। 'राजकुमारी' (१६०२) और 'अंगूठी का नगीना' (१६१८) की भाषा अवश्य आदर्श भाषा कही जा सकती है, जिसमें तद्भव और देशज शब्दों के साथ मुहावरे और कहावतें भी मिलती हैं। यही भाषा प्रेमचन्द द्वारा सुधरे रूप में गृहीत हुई है।

ठाकुर जगमोहनसिंह के 'श्यामा स्वप्न' और अम्बिकादत्त व्यास के 'आश्चर्य वृत्तान्त'-जैसे भावात्मक उपन्यासों की परम्परा को आरा के बाबू व्रजनन्दनसहाय ने 'सौंदर्योपासक' (१६१२) और 'राधाकान्त'

नामक उपन्यास लिखकर पुनः प्रचलित किया। लेकिन बाबू व्रजनन्दन सहाय ने 'श्यामा स्वप्न' की भाँति संस्कृत-काव्य-रूढ़ियों का आश्रय न लेकर बँगला के चन्द्रशेखर मुखोपाध्याय-लिखित 'उद्भ्रान्त प्रेम' की शैली को अपनाया, जिसमें प्रेम की स्वच्छन्द व्याख्या और भाषा का माधुर्य दिखाई देता है। इस उपन्यास का महत्त्व इसलिए है कि इसने 'स्वच्छन्दतावाद' के आगमन की पूर्व सूचना दी। आगे चलकर प्रेमचन्द के युग में चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' ने 'मनोरमा' और सद्गुरुशरण अवस्थी ने 'भ्रमित पथिक' में इस शैली को अपनाया; पर वह अधिक न चल सकी। इसका एक कारण तो रवीन्द्र की 'गीतांजलि' के अंग्रेजी अनुवाद के अनुकरण पर गद्य-गीतों का सृजन था, जिससे भावुकतापूर्ण उद्गारों को सरल माध्यम मिल गया और दूसरा कारण छायावाद द्वारा काव्य में स्वच्छन्दतावादी भावनाओं का ग्रहण करना था। लाला भगवानदीन-कृत 'अघट घटना' (१९१४), चाँदकरण शारदा-कृत 'भारत माता' (१९१६), श्रीधर पाठक-कृत 'तिलस्माती सुन्दरी' (१९१७), मिश्रबन्धु-कृत 'वीरमणि' (१९१८) आदि उपन्यास भी इस समय लिखे गए। इनमें लाला भगवानदीन के 'अघट घटना' की विशेषता यह है कि उसमें समकालीन देशी रजवाड़ों की अधिकार-लिप्सा, विलास-प्रियता, आन्तरिक षड्यंत्र और पारिवारिक जनों की नृशंस हत्याओं का चित्रण है। ऐसे समय जब कि भावुकतापूर्ण उपन्यासों की भरमार हो और पारसी-रंगमंच के प्रभाव से सस्ते प्रेम का चित्रण हो रहा हो, 'अघट घटना'-जैसे राजनैतिक उपन्यासों का प्रकाशन इस बात का प्रमाण है कि 'परीक्षा गुरु' से प्रारम्भ होने वाली हिन्दी-उपन्यास की यथार्थवादी परम्परा विच्छिन्न नहीं हुई। सच तो यह है कि तिलस्मी, जासूसी और शृंगारी उपन्यास हिन्दी की परम्परा के लिए अनुपयुक्त ही समझे जाते रहे हैं। 'स्वर्णमयी वा जैसी करनी वैसी भरनी' (१९१०) में उसके लेखक ईश्वरीप्रसाद वर्मा ने तत्कालीन उपन्यास लेखकों पर व्यंग करते हुए लिखा था—**"यार क्या ऐसे ही उपन्यास-लिखना होता है ? ज़रा चटपटी, चुलबुली नायिका हो, सुन्दर**

सलोना नायक हो, कुटनियों की कूट, ऐय्यारों की ऐय्यारी, माशूक-आशिक के चोचले हों, तिलस्मी की पेचदार कथा हो, तब उपन्यास की बहार होती है।" (पृष्ठ २७)। लगता है जैसे बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बंग-भंग और स्वदेशी-आन्दोलन (१९०५) के कारण जो राजनैतिक चेतना भारत में व्याप्त हो रही थी उसने घटना-प्रधान उपन्यासों की अस्वाभाविक परम्परा को भी एक चोट दी थी। परिणामस्वरूप नैतिक आदर्शवादी, तिलस्मी, जासूसी और शृंगारी प्रेमपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास युग की मांग के अनुकूल चरित्र-प्रधान और समस्यात्मक उपन्यासों के रूप में बदल गए, उनकी वर्णनात्मकता ने विश्लेषणात्मकता का मार्ग अपनाया, भाषा के संस्कृत-गर्भित और अरबी-फारसी-मिश्रित रूप ने सहजता का पल्ला पकड़ा। यह युग-परिवर्तन का कार्य प्रेमचन्द द्वारा पूरा हुआ।

लेकिन प्रेमचन्द्र के पूर्व उपन्यास-क्षेत्र में हुए मौलिक प्रयत्नों के साथ यदि अनुवादों पर विचार न होगा तो हमारा विवेचन अपूर्ण रहेगा, क्योंकि अनूदित उपन्यासों ने हिन्दी-उपन्यास को अनेक प्रकार से प्रभावित किया है। अतः प्रेमचन्द से पूर्व उपन्यासों के अनुवाद का जो कार्य हुआ उसका परिचय पा लेना आवश्यक है। इस युग में सबसे अधिक अनुवाद बँगला से हुए, क्योंकि उपन्यास-साहित्य भारतीय भाषाओं में सबसे अधिक समृद्ध था। बंकिमचन्द्र, उमेशचन्द्र दत्त, चण्डीचरण सेन, चारुदत्त, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और शरच्चन्द्र की रचनाओं के प्रचुर परिमाण में अनुवाद हुए। यों पहला अनुवाद 'पूर्ण प्रकाश चन्द्रप्रभा' (भारतेन्दु द्वारा कराया गया) मराठी का उपन्यास था, पर बाद में बंगला के अनुवाद ही विशेष रूप से हुए। अनुवाद-कर्त्ताओं में प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, राधाकृष्ण दास, कार्तिकप्रसाद खत्री, रामकृष्ण वर्मा, किशोरीलाल गोस्वामी, ईश्वरी-प्रसाद शर्मा आदि प्रमुख हैं। इन अनुवादकों ने मूल ग्रंथ और ग्रंथकार का नाम देकर 'अमुक भाषा से अनूदित' या 'अमुक भाषा के एक उपन्यास के आश्रय से लिखित' कहकर ही काम चलाया है। कुछ अनुवादों के

बारे में तो यह कहना भी कठिन है कि ये अनुवाद हैं भी या नहीं। कारण, उनका वातावरण हिन्दी-भाषा और समाज के अनुकूल हो गया है। बंगला के उपन्यासकारों में बंकिम ने न केवल हिन्दी वरन् अन्य प्रांतीय भाषाओं में भी राष्ट्रीय भावना जाग्रत की। उर्दू, अंग्रेजी और मराठी के भी अनुवाद हुए, पर उनका हिन्दी-उपन्यासों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। हाँ, अंग्रेजी के रेनाल्ड्स का कुछ प्रभाव किशोरीलाल गोस्वामी और गोपालराम गहमरी पर अवश्य कभी-कभी दिखाई देता है।

सन् १९१८ हिन्दी-उपन्यास के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उसी वर्ष प्रेमचन्द (सन् १८८०-१९३६) अपने 'सेवा सदन' को लेकर उपस्थित हुए। उससे पहले वे उर्दू में लिखते थे। इसके बाद वे हिन्दी के ही होकर रह गए। उन्होंने अपने से पूर्व चली आने वाली घटना-प्रधान उपन्यासों की धारा को मोड़कर चरित्र-प्रधान उपन्यासों का सूत्रपात किया और तिलस्मी, जासूसी तथा शृंगारी उपन्यासों के स्थान पर समाज की नित्य-प्रति की समस्याओं को स्थान दिया। कल्पना यथार्थ के चित्रण का माध्यम बनी, किसी स्वप्न-लोक के निर्माण की प्रेरिका नहीं। 'सेवा-सदन' के अतिरिक्त उनके दस उपन्यास और हैं, जिनके नाम हैं—'वरदान' (सन् १९०२), 'प्रतिज्ञा'* (१९०५-६), 'सेवा सदन' (१९१८), 'प्रेमाश्रम' (१९२२), 'रंगभूमि' (१९१४), 'निर्मला' (१९१७), 'कायाकल्प' (१९२८) 'गबन' (१९३०), 'कर्मभूमि' (१९३२), 'गोदान' (१९३६) और 'मंगलसूत्र' अपूर्ण।

प्रेमचन्द के इन उपन्यासों में प्रथम महायुद्ध के पश्चात् १९२०-२१ के और ३०-३१ के आन्दोलनों के बीच के भारत की राजनैतिक और

---

*यह प्रेमचन्द का पहला उपन्यास है, जो उर्दू में 'हम खुरमा हम सवाब' के नाम से निकला था। कहते हैं कि यह सन् १९०२, १९०४, १९०५ में तीन बार लिखा जाकर हिन्दी में परिवर्द्धित रूप में 'प्रतिज्ञा' नाम से छपा। हिन्दी में इसका पहला नाम 'प्रेमा' था।

सामाजिक स्थिति का सजीव चित्र मिलता है। महात्मा गांधी के सत्य-अहिंसा के सिद्धान्तों में जो हृदय-परिवर्तन का दर्शन था उसके अनुकूल ही प्रेमचन्द ने अपने साहित्य को यथार्थ चित्रण के साथ आदर्श का अनुयायी बना दिया और अपने मत को आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का नाम दिया। उनके उपन्यासों के दो भेद आसानी से हो सकते हैं—१—सामाजिक और २-राजनैतिक। 'सेवा सदन', 'वरदान', 'प्रतिज्ञा', 'निर्मला', 'गबन' आदि प्रथम वर्ग में आते हैं, और 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'कर्मभूमि', 'गोदान' आदि दूसरे वर्ग में। राजनैतिक वर्ग के उपन्यासों में यथाप्रसंग सामाजिक तत्त्वों का भी समावेश हुआ है। जिन सामाजिक तत्त्वों का समावेश प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में किया है वे हैं—विधवा की समस्या, वेश्या की समस्या, दहेज, वृद्ध-विवाह, दोहाजू आदि। ये वे ही विषय हैं, जो आर्य समाज द्वारा समाज-सुधार के लिए उठाये गए थे और जिनका प्रारम्भ भारतेन्दु-युग में 'परीक्षा गुरु' एवं 'सौ अजान और एक सुजान'-जैसे सुधारवादी उपन्यासों से हुआ था। 'सेवा सदन' में वेश्या-जीवन का चित्र है, जिसके साथ दहेज की समस्या, रूढ़िवादिता और विधवाओं की समस्या भी गुंथी हैं। 'निर्मला' में वृद्ध-विवाह के दुष्परिणाम हैं, 'गबन' में नारी की आभूषण-प्रियता और झूठी शान पर चोट है।

प्रेमचन्द ने समाज के भीतर के वर्गों को भी निकट से देखा था। यद्यपि राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से उनका संघर्ष वे प्रकट नहीं कर सके तथापि जमींदार-किसान, सूदखोर-महाजन और निर्धन कर्जदार श्रमिक, पूंजीवादी संस्कृति के रक्षक पण्डे-पुरोहित और सर्वहारा वर्ग के भूमिहीन खेतिहर तथा भिखारी सभी उनके उपन्यासों में आते हैं। राजनैतिक दृष्टि से हिन्दू-मुसलमानों के दंगों के कारणों, सरकारी अफसरों और राजाओं-महाराजों की जनान्दोलन के प्रति गद्दारी, अंग्रेजों की कूटनीति आदि पर उन्होंने देशभक्त कलाकार के रूप में प्रकाश डाला है। 'प्रेमाश्रम' में आदर्श ग्राम की कल्पना है, 'रंगभूमि' में राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रवृत्ति का विस्तार से परिचय है और 'कर्मभूमि' में ३१-३२

के आन्दोलन में परिवार के विघटन द्वारा समाज और राजनीति की व्याख्या है।

प्रेमचन्द प्रारम्भ में सुधारवादी दृष्टिकोण लेकर चले हैं, पर 'गोदान' में उनका यह दृष्टिकोण समाप्त होकर यथार्थ का शुद्ध रूप में ग्रहण हुआ है। होरी का सड़क कूटते हुए दम तोड़ना जैसे उनके आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का खात्मा है, और गोबर का नगर में जाकर मजदूरी करना साम्यवादी विचार-धारा की ओर बढ़ना। अधूरे 'मंगल सूत्र' में वे अपना कोई ठोस यथार्थवादी रूप अवश्य प्रकट करते, पर वह पूरा न हो सका।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में ग्राम्य-चित्रण और नगर-चित्रण साथ-साथ मिलते हैं, पर उनकी सहानुभूति ग्रामों के जीवन और उनके निवासियों के प्रति अधिक है; इसीलिए नगरों के मुकाबले ग्राम अधिक उभरे हैं। जीवन की वास्तविकता का यथातथ्य चित्रण उनकी विशेषता है। उनके उपन्यासों में आलंकारिकता और कल्पना की रंगीनी के स्थान पर सत्य के नये प्रकाश को ग्रहण करने वाली सरल भाषा का साहित्यिक रूप में प्रयोग मिलता है। यही उनकी कला की विशेषता है।

प्रेमचन्द ने सामाजिक यथार्थ की जिस भूमि पर खड़े होकर उपन्यास को नया रूप-रंग दिया, उसका निखार **प्रसाद** के 'कंकाल' (१९२०) में मिलता है। इस उपन्यास में भारतीय स्त्रियों की असहाय अवस्था का दिग्दर्शन और धर्म तथा संस्कृति के नाम पर पाखण्ड की पूजा पर प्रहार किया गया है। इसमें अवैध सामाजिक सम्बन्धों से उत्पन्न स्थितियों के प्रकाश में भारतीय जीवन का चित्रण है, जो प्रेमचन्द्र के समझौतावादी सामाजिक चित्रण से आगे की वस्तु है। 'तितली' (१९३४) प्रेमचन्दी परम्परा का ग्राम्य-जीवन से सम्बन्धित उपन्यास है और 'इरावती' (अधूरा, १९३९) ऐतिहासिक है।

प्रेमचन्द और प्रसाद के बाद विविध सामाजिक समस्याओं पर

उपन्यास लिखने वालों की बाढ़-सी आ गई। वेश्या-जीवन से सम्बन्धित उपन्यासों में ऋषभचरण जैन-कृत 'वेश्या पुत्र' (१९२९), प्रफुलचन्द्र ओझा-कृत 'पाप और पुण्य' (१९३४), भगवतीप्रसाद वाजपेयी-कृत 'पतिता की साधना' (१९३६) और सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला-कृत 'अप्सरा' (१९५१); अनमेल विवाह पर लिखित उपन्यासों में श्रीनाथसिंह-कृत 'क्षमा' (१९२५), भगवतीप्रसाद वाजपेयी-कृत 'अनाथ पत्नी' (१९२८) और प्रफुल्लचन्द ओझा-कृत 'तलाक' (१९३२); ग्राम्य जीवन के चित्रण वाले उपन्यासों में मन्नन द्विवेदी-कृत 'रामलाल' (१९२१), और शिव पूजन सहाय-कृत 'देहाती दुनिया' (१९२६); पुरोहितवाद का विरोध करने वाले उपन्यासों में श्री गंगाप्रसाद श्रीवास्तव-कृत 'स्वामी चौपटानन्द' (१९३६); नारी के त्याग से सम्बन्धित उपन्यासों में भगवतीप्रसाद वाजपेयी-कृत 'त्यागमयी' (१९३२), गोविन्दवल्लभ पन्त-कृत 'मदारी' (१९३६) और उषादेवी मित्रा-कृत 'वचन का मोल' (१९३६); विधवा जीवन पर आधारित उपन्यासों में तेजरानी दीक्षित-कृत 'हृदय का काँटा' (१९२८) और चतुरसेन शास्त्री-कृत 'अमर अभिलाषा' (१९१३), 'आत्मदाह' (१९२६) और 'नील माटी' (१९४०); कौटुम्बिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालने वाले उपन्यासों में ऋषभचरण जैन-कृत 'भाई' (१९३१), अवधनारायण-कृत 'विमाता' (१९२३), शम्भूदयाल सक्सेना-कृत 'बहू रानी' (१९३०) और विश्वम्भरनाथ-शर्मा कौशिक-कृत 'माँ' (१९२९); राजनैतिक-साम्प्रदायिक समस्याओं को लेकर चलने वाले उपन्यासों में राजा राधिकारमणप्रसादसिंह-कृत 'राम-रहीम' (१९३०) और उग्र-कृत 'चन्द हसीनों के खतूत' (१९२७) आदि उपन्यास उल्लेखनीय हैं।

प्रेमचन्द ने यथार्थवाद का चित्रण करते हुए भी आदर्शवाद का पल्ला नहीं छोड़ा। उन्होंने समस्याओं के जो समाधान प्रस्तुत किये हैं वे खोखले हैं; क्योंकि उनका आधार आर्थिक और राजनैतिक न होकर नैतिक है, और नैतिकता अर्थ से सम्बद्ध है। 'गोदान' में वे अवश्य शुद्ध

यथार्थवादी हैं। प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के विरोध में नग्न यथार्थ या प्रकृतवाद का चित्रण करने वाले कुछ उपन्यासकार भी सामने आये। अंग्रेजी में इसे 'नेचुरलिस्टिक रियलिज़म' कहते हैं। उग्र, ऋषभचरण जैन, चतुरसेन शास्त्री आदि ने इस धारा की रचनाएँ लिखीं। उग्र के 'दिल्ली का दलाल', 'बुधुआ की बेटी', 'शराबी' आदि, ऋषभचरण जैन का 'बुर्दाफरोश' और चतुरसेन शास्त्री के 'हृदय की परख', 'व्यभिचार' आदि उपन्यास इसी कोटि के हैं। इनमें नगर के चकलों के नारकीय कृत्य, विधवाश्रम, अनाथालय आदि के व्यभिचार, चोर-उचक्के, पियक्कड़, सूदखोरों और सफेदपोश नौकरी पेशाओं की घृणित मनोवृत्ति का नग्न रूप दिखाया गया है। वस्तुतः प्रसाद के 'कंकाल' के कारण इन लेखकों को ऐसे उपन्यास लिखने की प्रेरणा मिली। लेकिन हिन्दी की प्रवृत्ति कदाचित् इनके अनुकूल नहीं थी, इसीलिए यह धारा बीच में ही सूख गई।

कुछ-कुछ ऐसी ही बात शरच्चन्द्र से प्रभावित होकर लिखे जाने वाले अवैध प्रेम के उपन्यासों के विषय में भी हुई। शरत् के 'देवदास' और 'गृहदाह' में जो घुटन का वातावरण है, नारी का आत्म-पीड़न है, वह भगवतीप्रसाद वाजपेयी-जैसे कुछ लेखकों में दिखाई तो दिया, पर वे शीघ्र सँभल गए। वस्तुतः स्वच्छन्द प्रेम की व्यंजना भी यदि हमारे यहाँ हुई तो उसमें आत्म-बलिदान की भावना प्रमुख रही, आत्म-पीड़न की नहीं। श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने अपने 'प्रेम की भेंट' (१९३१), 'कुण्डली चक्र' (१९३२) आदि उपन्यासों में उसका भारतीय संस्कृति के अनुरूप आदर्शवादी रूप ही दिखाया है।

सारांश यह कि प्रेमचन्द और उनके युग में आदर्शोमुख यथार्थवाद की ही प्रमुखता रही। यही हिन्दी की अपनी स्वस्थ परम्परा भी थी, जो भारतेन्दु-युग से चली आ रही थी। प्रेमचन्द ने अपनी प्रतिभा से उसे और भी दृढ़ता दे दी।

लेकिन प्रेमचन्द में नारी-जीवन की समस्याओं को ऊपर से छुआ

गया है। वेश्या, विधवा, बाल-विवाह, अनमेल विवाह आदि का राजनैतिक-आर्थिक आधार पर विश्लेषण नहीं, अतः उनके समाधान भुलावे हैं। इसका कारण यह है कि पूंजीपति-मजदूर-संघर्ष १६३६ तक ही तीव्र हो पाता है और तभी जीवन में आदर्शवादी मान्यताएँ अपना आकर्षण खोने लगती हैं। साम्यवादी विचार-धारा इस समय गहरी होती है, जिससे जीवन का दृष्टिकोण बदलता है, समाज में नारी- स्वातन्त्र्य की चेतना जगती है और यथार्थ का नया रूप सामने आता है। उधर फ्रायड के मनोविश्लेषण-शास्त्र से मनुष्य की अन्तर्मुखी वृत्तियों को बाह्य जीवन का नियन्ता सिद्ध करने के फलस्वरूप मानव-मन की छानबीन प्रारम्भ होती है। साथ ही अपने अतीतकालीन इतिहास में भी एक ओर साम्यवादी, तो दूसरी ओर युग के सामाजिक जीवन से मिलते-जुलते वातावरण की खोज की जाती है। वैयक्तिक मनोविज्ञान का आतंक एक बार प्रेमचन्द की यथार्थवादी परम्परा पर हावी हो जाता है, लेकिन तभी कुछ कलाकार आंचलिक उपन्यासों द्वारा प्रेमचन्द की मान्यताओं को बल देते जान पड़ते हैं। यो हिन्दी-उपन्यास प्रेमचन्द के बाद कई धाराओं में बहने लगता है। मोटे तौर पर प्रेमचन्द के बाद के उपन्यासों को निम्नलिखित वर्गों में बांट सकते हैं—

१. सामाजिक उपन्यास, २. मनोवैज्ञानिक उपन्यास, ३. साम्यवादी उपन्यास, ४. राजनैतिक उपन्यास, ५. ऐतिहासिक उपन्यास, ६. आंचलिक उपन्यास।

१. **सामाजिक उपन्यास**—सामाजिक उपन्यासों में समाज की सामान्य समस्याओं का चित्रण किया जाता है। समाज के धार्मिक अन्ध-विश्वास और रूढ़ियां, नारी का समाज में स्थान, स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध, प्रेम का आदर्श आदि बातें सामाजिक उपन्यासों में विशेष रूप आती हैं। प्रेमचन्द के बाद विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, सियारामशरण गुप्त, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, उषादेवी मित्रा आदि ने अच्छे सामाजिक उपन्यास

लिखे हैं। **कौशिकजी** ने 'माँ' और 'भिखारिणी' दो उपन्यास लिखे हैं, जिनमें से पहले में कर्तव्य-परायण माँ और मूर्ख माँ का तुलनात्मक चित्रण है, और दूसरे में एक 'भिखारिणी' के त्याग-अनुरागमय जीवन का अंकन। दोनों उपन्यास आदर्शोंमुख यथार्थवाद का ही भव्य रूप प्रस्तुत करते हैं। **प्रतापनारायण श्रीवास्तव** ने 'विदा, 'विजय', 'विकास' आदि द्वारा सामाजिक उपन्यास-लेखकों में महत्त्व का स्थान प्राप्त किया है।'विदा' में तीन परिवारों की कथा को एक सूत्र में गूंथकर पाश्चात्य तथा पौर्वात्य संस्कृति का द्वन्द्व दिखाया है, जिसमें विजय पौर्वात्य संस्कृति की होती है। 'विजय' विधवा-विवाह की समस्या से सम्बद्ध है, पर समस्या उस वर्ग की है, जो सामाजिक प्रतिबन्धों से ऊपर उठ चुका है। यह इसकी नवीनता है। 'विकास' में अर्वाचीन और प्राचीन मान्यताओं के संघर्ष के लिए जो अनेक कथाएँ गुंथी हैं, वे उपन्यास के लिए घातक हो गई हैं। 'आशीर्वाद', 'पाप की ओर', विसंजन' आदि उनके अन्य उपन्यास हैं; जिनमें अन्तिम राजनैतिक है। श्रीवास्तव जी के उपन्यास आदर्शवादी परम्परा के ही है। **सियारामशरण गुप्त** के 'नारी' उपन्यास में नारी की सहनशीलता और सत्यनिष्ठा का परिचय है। **भगवतीप्रसाद वाजपेयी** के 'पतिता की साधना', 'पिपासा', 'दो-बहनें', 'निमन्त्रण', 'पतवार' आदि उपन्यासों में आर्थिक और सामाजिक दोनों दृष्टिकोणों से स्त्री-पुरुष के पारस्परिक प्रेम, अतृप्त अभिलाषा आदि का चित्रण हुआ है। प्रेम इनके उपन्यासों का मुख्य तत्त्व है, जिस पर शरत् की छाया है। 'एकदा', 'विश्वास का बल', 'सूनी राह' और 'गोमती के तट पर' इनके नये उपन्यास हैं, जिनमें इनकी कला निखरी है। **सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला** ने 'अलका', 'निरुपमा', 'प्रभावती' आदि में प्रेमचन्द का ही अनुसरण किया है। ग्रामीणों की कठिनाइयों, जमींदारों और महाजनों के किसानों पर अत्याचार, छुआछूत आदि ग्राम्य-जीवन की समस्याएँ विशेष रूप से आई हैं। 'निरुपमा' में शहर और गाँव का द्वन्द्व बहुत अच्छी तरह दिखाया गया है। **उषादेवी मित्रा** ने अपने 'वचन का

मोल', 'पिया', 'जीवन की मुस्कान', 'सोहनी' आदि उपन्यासों में नारी की अनेक समस्याओं को स्पर्श करके गृहिणीत्व का आदर्श स्थापित किया है।

कुछ सामाजिक उपन्यास ऐसे भी लिखे गए हैं जिनमें शिक्षित युवक-युवतियों के जीवन में प्रेम की समस्या पर विचार हुआ है। रांगेय राघव का 'घरौंदे', ऋषभचरण जैन का 'मन्दिर दीप', कुटुम्बप्यारी सक्सेना का 'हृदय का ताप' आदि उपन्यास इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। ये उपन्यास प्रेमचन्द की परम्परा से कुछ हटकर हैं और इस बात की ओर संकेत करते हैं कि वैवाहिक मर्यादा में बँधकर ही नारी या पुरुष की प्रेम की भूख शान्त नहीं हो सकती।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास—सन् १९३६ में जब जैनेन्द्रकुमार का 'सुनीता' उपन्यास प्रकाशित हुआ तब हिन्दी में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का सूत्रपात हुआ। प्रेमचन्द ने व्यक्ति के मनोविज्ञान को समाज के साथ मिलाकर देखा था, जैनेन्द्र ने व्यक्ति के मनोविज्ञान के प्रकाश में समाज को देखा। चरित्र-प्रधान उपन्यासों की जो परम्परा प्रेमचन्द ने प्रारम्भ की थी उसे जैनेन्द्र ने नये रूप में ग्रहण किया। प्रेमचन्द का क्षेत्र गाँव, खेत और विस्तृत सामाजिक जीवन था, जैनेन्द्र ने शहर की गली और कोठरी में प्रवेश किया। जैनेन्द्र ने समाज की बाह्य समस्याओं के स्थान पर आभ्यन्तर मन की गुत्थियाँ सुलझाईं। 'परख', 'सुनीता', त्यागपत्र', 'कल्याणी', 'सुखदा', 'व्यतीत', विवर्त' और 'जयवर्द्धन' आदि उपन्यासों में प्रेम की समस्या प्रमुख है। जैनेन्द्र गांधीवादी विचारक हैं, अतः वे पर-पीड़न से अधिक आत्म-पीड़न में विश्वास रखते हैं और आत्म-पीड़न का उग्रतम रूप, उनकी दृष्टि में, प्रेम की वेदना सहने में हैं, अतः वे अपने पात्रों को प्रेमाग्नि में तपाते हैं। इसके लिए उन्होंने अपने उपन्यासों में पति के प्रेम के साथ प्रेमी के प्रेम का संघर्ष दिखाया है। जैनेन्द्र की नारी स्वतंत्र होकर समाज में उच्छृंखलता नहीं फैलाती, प्रत्युत अपने त्याग और बलिदान द्वारा अपनी

स्थिति को दृढ़ बनाकर पुरुष को सुपथ पर लाती है। उनके उपन्यासों में चरित्र-चित्रण की प्रधानता है, कथा या मनोरंजन की नहीं। वे फ्रायडियन मनोविज्ञान से प्रभावित नहीं है, जैसा कि कहा जाता है। उनका तो अध्ययन-क्रम ही दूसरा है। दो-चार पात्र, छोटा-सा कथानक और कथन की नवीन शैली, यही उपकरण लेकर जैनेन्द्र अपने उपन्यासों का निर्माण करते हैं। उनके उपन्यास बहुत बड़े नहीं होते। उन्हें पात्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में बड़ी सफलता मिली है। पीछे के उपन्यासों में जैनेन्द्र दार्शनिक अधिक हो गए हैं। पर भाषा-शैली की उनकी सहजता उनके साथ सदा बनी रही है। वह नये उपन्यासों में भी है, और आगे भी रहेगी।

वैयक्तिक मनोवैज्ञानिक चित्रण-प्रधान उपन्यासों का सूत्रपात जैनेन्द्र जी ने किया, पर फ्रायड, एडलर, युंग आदि मनोविश्लेषण-शास्त्रियों की मान्यताओं के प्रकाश में उपन्यास द्वारा पात्रों की नई सृष्टि **इलाचन्द्र जोशी** ने की। इन मनोविश्लेषण-शास्त्रियों की मान्यता के अनुसार मनुष्य अपनी पशु-वृत्तियों को सभ्यता और संस्कृति के नाम पर दबाता चला आ रहा है, लेकिन ये प्रवृत्तियाँ ज्यों-ज्यों दबाई जाती हैं, अधिकाधिक उग्र होकर समाज में अपना प्रभाव दिखाती हैं। मनुष्य के बाह्य व्यवहार और अन्तर्मन दोनों में विरोध रहता है और कभी-कभी भला दिखने वाला बुरा, और बुरा दिखने वाला भला काम करके लोगों को आश्चर्य-चकित कर देता है। मनोविश्लेषण-प्रधान उपन्यासों में व्यक्ति के चरित्र का अध्ययन उसके स्वप्न, संभाषण, भाव-भंगी आदि के आधार पर होता है। उसके व्यावहारिक जीवन में उसकी आन्तरिक इच्छाओं की छाया दिखाई देती है। जोशी जी भी इसी प्रकार के विश्लेषण से प्रभावित रहे हैं। 'संन्यासी', 'घृणामयी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'लज्जा, 'निर्वासित', 'जिप्सी' आदि उनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। प्रेम इन उपन्यासों का भी केन्द्रीय भाव है, क्योंकि मनोविश्लेषण-शास्त्र में काम-वासना ही जीवन की सबसे बड़ी प्रेरक शक्ति है।

वे वैज्ञानिक की भाँति अपने पात्रों को सिद्धान्त के उदाहरण-स्वरूप सामने रखते हैं और उनके अन्तर्मन में प्रवेश करते हैं। यह वैज्ञानिक विश्लेषण कला का घातक हो जाता है। 'जहाज का पंछी' में जोशी जी मनोविश्लेषण-प्रधान उपन्यास का कलात्मक रूप प्रस्तुत करने विशेष रूप से सफल हुए हैं।

'शेखर : एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप'-जैसे उपन्यासों में अज्ञेय ने मनोविश्लेषण-प्रधान उपन्यासों का नया ही रूप प्रस्तुत किया है। प्रेमचन्द ने एक बार कहा था—**"भावी उपन्यास जीवन-चरित होगा और तब यह काम उससे कठिन होगा, जितना अब है।"** 'गोदान' के बाद 'शेखर : एक जीवनी' में प्रेमचन्द की इस भविष्य-वाणी को सत्य करके अज्ञेय ने अपनी शक्ति का परिचय दिया है। अज्ञेय व्यक्तिवाद के अतिवादी रूप को मानने वाले हैं। वे बौद्धिक तटस्थता को अपनाकर चलने वाले कलाकारों में अग्रणी हैं। शेखर अनेक नारियों के सम्पर्क में आता है और प्रेम की जटिलता का अनुभव करके दार्शनिक की भाँति जीवन-मृत्यु, प्रेम-घृणा, हिंसा-अहिंसा, प्यार-वासना-धर्म की नैतिकता आदि की समस्याओं पर विचार करता है। वेदनानुभूति ही इसका मेरुदण्ड है। यह जैनेन्द्र के आत्म-पीड़न का ही विकसित रूप है। पर यहाँ बौद्धिक तटस्थता अधिक है। 'नदी के द्वीप' में अज्ञेय की उपन्यास-कला का निखरा हुआ रूप मिलता है। नदी के प्रवाह में पड़े द्वीपों की भाँति ही समाज के बीच पात्रों की स्थिति है। इसमें रेखा, भुवन, चन्द्रमाधव, गौरा आदि विभिन्न वर्गों के पात्रों द्वारा आधुनिक व्यक्ति की मन:स्थिति का चित्रण है। कलात्मक दृष्टि से यह उपन्यास 'शेखर:एक जीवनी' से श्रेष्ठ है। इसका गद्य-शिल्प तो हिन्दी का शृंगार है।

डॉक्टर देवराज का 'पथ की खोज', **नरोत्तम नागर** का 'दिन के तारे' **धर्मवीर भारती** का 'गुनाहों का देवता' आदि तथा **डॉक्टर द्वारिकाप्रसाद** का 'घेरे के बाहर' उपन्यास भी इसी परम्परा में आते हैं। **श्रीमती रजनी पनिकर** ने नारी-जीवन की समस्याओं को लेकर इधर 'पानी की दीवार',

'मोम के मोती' 'काली लड़की', 'जाड़े की धूप' आदि जो उपन्यास लिखे हैं, उनमें नारी-मनोविज्ञान का स्वस्थ रूप दिखाई देता है। यहाँ नारी द्वारा नारी की समस्या का अंकन होने से विकृति का समावेश नहीं हो पाया।

साम्यवादी उपन्यास—मार्क्सवाद के प्रचार द्वारा हिन्दी में साम्यवादी उपन्यासों की ओर हिन्दी-लेखकों का ध्यान गया। यों तो प्रेमचन्द के 'मंगल सूत्र' से इस प्रकार के उपन्यासों की नींव पड़ गई थी, पर यशपाल ने उसे पूर्णतः समृद्ध कर दिया। 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'पार्टी कामरेड', 'मनुष्य के रूप' आदि उपन्यासों में उन्होंने साम्यवादी विचार-धारा के अनुसार समाज की समस्याओं का विश्लेषण किया। जैनेन्द्र के आत्म-पीड़न के विरुद्ध आत्म-तृप्ति का तत्त्व लेकर यशपाल के उपन्यास चले हैं। यशपाल राजनैतिक आन्दोलनों की पृष्ठभूमि में समाज की प्रगति दिखाने के लिए अपने पात्रों का चरित्र गढ़ते हैं। सामाजिक वैषम्य, वर्ग-संघर्ष, आचार-हीनता आदि के लिए वे निहित स्वार्थों को उत्तरदायी ठहराते हैं। प्रेमचन्द के बाद देश और समाज की विशाल पृष्ठभूमि को सामने रखकर उपन्यास लिखने वाले वे एक-मात्र लेखक हैं। 'गोदान' के बाद उनका 'झूठा सच' अपने विषय का अन्यतम उपन्यास है, जिसमें विभाजन के बाद के भारत का सम्पूर्ण चित्र है। भाषा-शैली और शिल्प दोनों से वे सच्चे जन-कलाकार सिद्ध होते हैं। उनकी कला में प्रचार का तत्त्व होते हुए भी वे हिन्दी के श्रेष्ठतम उपन्यासकारों की प्रथम पंक्ति में हैं।

यशपाल के अतिरिक्त **राहुल सांकृत्यायन, नागार्जुन, रांगेय राघव, अश्क** आदि ने भी इस धारा को पुष्ट किया है। इनमें **नागार्जुन** के 'बलचनमा' और 'नई पौध', **'रांगेय राघव'** के 'विषाद मठ' और 'हुजूर' अश्क का 'गिरती दीवारें' और भैरवप्रसाद गुप्त का 'मशाल' महत्त्वपूर्ण उपन्यास हैं। रांगेय राघव मध्यवर्ग, अश्क निम्नमध्य वर्ग नागार्जुन तथा भैरवप्रसाद गुप्त निम्नवर्ग के चित्रण में साम्यवादी विचार-धारा का भव्य रूप प्रस्तुत करते हैं।

राजनैतिक उपन्यास—प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' आदि अपने

सामाजिक उपन्यासों में राजनैतिक जीवन का अंकन किया है। 'कर्मभूमि' तो शुद्ध राजनीति पर खड़ा है। इस परम्परा को दृढ़ता के साथ आगे बढ़ाने वाले **श्री राजा राधिकारमणप्रसादसिंह** हैं। अपने 'राम रहीम' नामक विशाल उपन्यास में उन्होंने गांधी की हिन्दू-मुस्लिम-एकता पर आधारित राजनीति का ब्यौरेवार चित्रण किया है। **अंचल** ने अपने 'चढ़ती धूप' उपन्यास में सन् १९४२ के राष्ट्रीय आन्दोलन की असफलता के कारणों का विश्लेषण करके साम्यवादी राजनीति का समर्थन किया। 'नई इमारत' में भी प्रगतिशीलता का यही स्तर है। इस धारा की एक उल्लेखनीय रचना **भगवतीचरण वर्मा-कृत** 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' हैं। इस उपन्यास में एक परिवार के पाँच व्यक्तियों में से पिता सामंतवादी है, तो छोटा-भाई नौकरशाही का प्रतीक है, और तीन लड़कों में से एक गांधीवाद, दूसरा साम्यवाद और तीसरा आतंकवाद का समर्थक है। यों प्रचलित सभी राजनैतिक विचार-धाराओं का परिचय दिया गया है पर उपन्यासकार कोई निश्चित दृष्टि नहीं दे सका। इधर दो उपन्यासकारों ने राजनीति को आधार बनाकर ही उपन्यासों का सृजन किया है। उनमें एक हैं **गुरुदत्त** और दूसरे हैं **यज्ञदत्त शर्मा**। गुरुदत्त का दृष्टिकोण पुनरुत्थानवादी है, यज्ञदत्त शर्मा का प्रगतिशील। गुरुदत्त ने हिन्दू-दृष्टिकोण से 'देश की हत्या', 'स्वराज्य दान' आदि कई उपन्यास लिखे हैं, तो यज्ञदत्त शर्मा के 'इन्सान', 'भुनिया' तथा 'अंतिम चरण' प्रेमचन्द की परम्परा में आते हैं।

ऐतिहासिक उपन्यास—हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यासों का सूत्रपात बंगला के बंकिमचन्द्र, राखालदास वन्द्योपाध्याय आदि के अनूदित उपन्यासों से हुआ था। उसके बाद किशोरीलाल गोस्वामी ने 'तारा', 'मल्लिका देवी', 'लखनऊ की कब्र', 'रजिया बेगम' आदि ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। जैसे प्रेमचन्द ने सामाजिक अथवा राजनैतिक जीवन से सम्बद्ध उपन्यासों को नई दिशा दी, वैसे ही किशोरीलाल गोस्वामी के कल्पनातिरेक से पूर्ण उपन्यासों को यथार्थ ऐतिहासिक रूप

श्री **वृन्दावनलाल वर्मा** ने दिया। १९२८ में उनका 'गढ़ कुण्डार' उपन्यास निकला था। कुछ ही दिन बाद 'विराटा' की पद्मिनी' प्रकाश में आया। बुन्देलखण्डी प्रकृति और सांस्कृतिक झाँकी से पूर्ण इन ऐतिहासिक उपन्यासों ने हिन्दी-उपन्यास को नया स्वरूप दिया। वर्मा जी के ये दोनों उपन्यास किंवदन्तियों के आधार पर लिखे गए है। इनमें उन्होंने खण्डहरों की आत्मा से साक्षात्कार करके उनमें प्राण फूंके हैं। पीछे चलकर उन्होंने 'झाँसी की रानी', 'मृगनयनी', 'माधव जी सिंधिया', 'अहिल्या बाई', 'टूटे काँटे', 'कच-नार', 'भुवन विक्रम' आदि दर्जनों ऐतिहासिक उपन्यास लिखे; जिनमें इतिहास की सीमाओं में रहकर युग-विशेष या व्यक्ति-विशेष का राष्ट्रीय दृष्टि से मूल्यांकन हुआ है। अधिकांश उपन्यास मुगलों के पतन और अंग्रेजों के उत्थान-काल के बीच के भारतीय इतिहास से सम्बन्धित हैं। कल्पना का आश्रय लेकर भी उन्होंने इतिहास को विकृत नहीं होने दिया। जो लिखा है, सब सोच-समझकर लिखा है और देश-काल, अथवा पात्रों का सजीव चित्रण करके अपनी कला की सार्थकता प्रमाणित कर दी है। यही उनकी कला की विशेषता है।

अन्य ऐतिहासिक उपन्यास-लेखकों में प्रसाद ('इरावती'), भगवती चरण वर्मा ('चित्र लेखा'), यशपाल ('दिव्या' और 'अमिता'), चतुरसेन शास्त्री ('वैशाली की नगरवधू'), राहुल सांकृत्यायन ('सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय'), रांगेय राघव ('मुर्दों का टीला'), हजारीप्रसाद द्विवेदी ('बाण-भट्ट की आत्म-कथा') आदि ने अच्छी रचनाएँ दी हैं। 'इरावती' अपूर्ण है, पर फिर भी भाव और भाषा की दृष्टि से उच्चकोटि का है। 'चित्र-लेखा' में पाप-पुण्य की समस्या ऐतिहासिक परिवेश में सुलझाई गई है। 'दिव्या' यद्यपि बौद्धकालीन उपन्यास है, पर उसमें व्यक्ति की शाश्वत समस्याओं का सहानुभूतिपूर्ण चित्रण है। 'अमिता' अशोक की कलिंग-विजय से सम्बद्ध है। 'मुर्दों का टीला' प्रागैतिहासिक काल की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' तो सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासों में गिना जाता है। इसमें सांस्कृतिक वातावरण प्रस्तुत करने

में लेखक को अद्भुत सफलता मिली है।

आंचलिक उपन्यास—हिन्दी में आंचलिक उपन्यासों का सूत्रपात करने वाले श्री वृन्दावनलाल वर्मा हैं, जिन्होंने अपने उपन्यासों में वुन्देलखण्ड को लक्ष्य बनाया है। अंचल-विशेष की बोली, रीति-रिवाज, रहन-सहन, मत-विश्वास आदि सभी बातें वर्मा जी में मिल जाती हैं। लेकिन ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक होने से उधर लोगों का ध्यान नहीं गया। अब आंचलिक उपन्यासों का प्रारम्भ फणीश्वरनाथ 'रेणु' के 'मैला आंचल' से माना जाता है। स्वयं लेखक ने इसके विषय में कहा है—**"यह है मैला-आंचल, एक आंचलिक उपन्यास। कथांचल है पूर्णिया—बिहार राज्य का एक जिला है।······मैंने इसके एक हिस्से के एक ही गाँव को—पिछड़े गाँवों का प्रतीक मानकर—इस किताब का क्षेत्र बनाया है।"** श्री नलिनविलोचन शर्मा ने उसे 'गोदान' के बाद सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना है। अपनी भाषा-शैली के कारण यह उपन्यास निश्चय ही युगान्तरकारी है। 'रेणु' का दूसरा उपन्यास 'परती-परिकथा' भी इसी श्रेणी का उपन्यास है। उसका शिल्प और भी विकसित है।

रेणु से पहले 'नागार्जुन' ने मैथिली और हिन्दी में समान रूप से ग्राम्य-जीवन-सम्बन्धी जो उपन्यास लिखे हैं, उनमें आंचलिक तत्त्वों का सफल समावेश था। इस दृष्टि से उनके 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा' आदि उपन्यास उच्चकोटि के हैं। 'मैला आंचल' के बाद सर्वश्रेष्ठ आंचलिक उपन्यासों में **उदयशंकर भट्ट**-कृत 'सागर लहरें और मनुष्य' तथा 'लोक-परलोक', **रांगेय राघव**-कृत 'कब तक पुकारूँ' और **अमृतलाल नागर**-कृत 'बूंद और समुद्र' महत्त्वपूर्ण है। भट्टजी ने पहले उपन्यास में बम्बई के मछुओं का जीवन और दूसरे में अपने गाँव कर्णवास और उसकी विभिन्न जातियों का चित्र दिया है। रांगेय राघव ने भरतपुर के कंजड़ों का अध्ययन प्रस्तुत किया है। अमृतलाल नागर ने लखनऊ के चौक मोहल्ले के गली-कूंचों के चित्रण द्वारा विस्तृत भारतीय समाज की झाँकी देकर 'बूंद और समुद्र' नाम सार्थक किया है। इन सभी उपन्यासों में अंचल

विशेष की बोली और उसके भी पात्रानुकूल रूपों के सफल प्रस्तुतीकरण से उपन्यास-शिल्प ही नहीं, चरित्र-चित्रण का भी नया प्रकार हाथ आ गया है। ये सब उपन्यास जन-जीवन की गहराई में डूबकर निकाले गए मोती हैं।

इन वर्गों में विभाजित उपन्यासों के अतिरिक्त शिक्षित मध्यवर्ग के जीवन पर आधारित कुछ और अच्छे उपन्यास लिखे गए हैं। इस प्रकार के उपन्यासों में राजेन्द्र यादव-कृत 'उखड़े हुए लोग' सर्वश्रेष्ठ है। सुपठित तरुण राजेन्द्र यादव ने सामन्ती व्यवस्था के ढहते हुए विकृत जीवन के चित्रण में प्रशंसनीय सफलता पाई है। आजकल लघु उपन्यासों का भी चलन हो गया है, जिनमें रांगेय राघव ('उबाल'), नागार्जुन ('बाबा बटेसरनाथ'), देवराज ('बाहर-भीतर'), धर्मवीर भारती ('सूरज का सातवाँ घोड़ा'), राजेन्द्र यादव ('कुलटा'), प्रभाकर माचवे ('परन्तु') आदि ने अच्छे उपन्यास लिखे हैं।

मौलिक उपन्यासों के अतिरिक्त साहित्य अकादेमी द्वारा विभिन्न देशी और विदेशी भाषाओं से अनेक उच्चकोटि के अनुवाद भी हिन्दी में हुए हैं। इस प्रकार हिन्दी का उपन्यास-साहित्य समुद्र की भाँति विशाल और गहरा होता जा रहा है।

६
कहानी

आधुनिक-हिन्दी कहानी के जन्म और विकास में भारतीय प्राचीन कथा-साहित्य, लोक-कथाओं और पाश्चात्य कहानियों—तीनों का सम्मिलत योग रहा है। संस्कृत के 'बृहत् कथा श्लोक', 'कथा सरित् सागर', 'पंचतंत्र', 'हितोपदेश', 'कादम्बरी', 'दशकुमार चरित' आदि का कथा-साहित्य; प्राकृत-अपभ्रंश की छोटी-छोटी पद्य-कथाएँ; मध्ययुगीन 'मृगावती', 'पद्मावती', 'मधुमालती' आदि प्रेमाख्यान, राजस्थान के वात, ख्यात आदि गद्य-रूप; और व्रजभाषा-गद्य की 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' एवं 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता'; तथा लोक में प्रचलित नाना प्रकार की मनोरंजक कथाओं ने हिन्दी-कहानी को प्रभावित किया है। हिन्दी-गद्य के आरम्भ काल में सदल मिश्र के 'नासिकेतोपाख्यान', लल्लूलाल के 'प्रेमसागर' और इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' में से प्रथम दोपुस्त कें संस्कृत की परम्परा में हैं, तो तीसरी लोक-कथाओं की परम्परा में। 'सरस्वती' के प्रकाशन से पूर्व गदाधरसिंह ने 'कादम्बरी' का एक बहुत बड़ी कहानी के रूप में जो अनुवाद किया था वह संस्कृत-परम्परा में था और लाला पार्वतीनन्दन की 'भूतों वाली हवेली', 'प्रेम का फुआरा' आदि कहानियाँ लोक-कथाओं की परम्परा में। पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव हिन्दी-कहानी पर पाठ्य-क्रम में स्वीकृत नैथेनियल हाथोर्न ('टैंगिलाइड टेल्स'), वाशिंगटन इरविंग ('स्केच बुक'), चार्ल्स किंग्सले ('दी हीरोज़'), सर वाल्टर स्कॉट ('दी ट्र डॉवर्स'), चार्ल्स

डिकेस ('दी सेविन पुग्रर ट्रेवलर्स'), चार्ल्स एण्ड मेरी लेम्ब्स ('टेल्स फ्रॉम शेक्सपीयर') आदि की रचनाओं का पड़ा। सन् १९०० में 'सरस्वती' में शेक्सपीयर के अनेक नाटकों के अनुवाद प्रकाशित हुए। इससे पूर्व 'केशव राम की कथा' (१८८१), 'प्रभु यीशु की कथा' (१८८३), 'यीशु विवरण' (१८८३) आदि छोटी-छोटी कहानियाँ ईसाई-धर्म-ग्रंथों से अनूदित होकर प्रकाश में आ चुकी थीं। इस प्रकार हिन्दी-कहानी के प्रारंभ के लिए सन् १९०० से पूर्व ही भूमि तैयार हो गई थी। वैसे भारतेन्दु-युग के 'सार सुधानिधि', 'हिन्दी प्रदीप', 'आनन्द कादम्बिनी' आदि पत्रों में भी अनेक ऐसे काल्पनिक लेख निकलते थे, जिनसे स्वप्न-चित्र और व्यंग-चित्रों के माध्यम से कहानी का मनोरंजक रूप सामने आने लगा था। भारतेन्दु-कृत 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' ऐसा ही लेख था। 'हिन्दी प्रदीप' और 'भारत मित्र' आदि पत्रों में 'गप्पाष्टक' नाम से व्यंगात्मक कहानियाँ निकलती थीं। 'सरस्वती' और 'सुदर्शन' के प्रकाशन से इन स्फुट प्रयत्नों को प्रौढ़ रूप मिलने लगा।

प्रारंभिक हिन्दी-कहानियाँ—हिन्दी की पहली कहानी 'इन्दुमती' सन् १९०० में श्री किशोरीलाल गोस्वामी ने लिखी थी। उसी वर्ष 'हिन्दी प्रदीप' में बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन द्वारा सम्पादित 'भाग्य का फेर' (एक मनोहर कहानी) का भी प्रकाशन हुआ था। कुछ लोग 'इन्दुमती' को हिन्दी की पहली कहानी नहीं मानते, क्योंकि एक तो वह आख्यायिका के ढंग की है, और दूसरे उस पर शेक्सपीयर के 'टेम्पेस्ट' की छाया है। कुछ लोग पं० रामचन्द्र शुक्ल-लिखित 'ग्यारह वर्ष का समय' को हिन्दी की पहली कहानी मानते हैं। लेकिन यह भी आख्यायिका के ढंग की है। 'सरस्वती' (१९००) के साथ ही प्रकाशित 'सुदर्शन' पत्र में पं० माधवप्रसाद मिश्र की सन् १९०१ में 'मन की चंचलता' नामक कहानी छपी थी। 'माधवप्रसाद निबन्धमाला' के सम्पादक चतुर्वेदी द्वारिकाप्रसाद शर्मा ने मिश्र जी की इस कहानी को ही हिन्दी की पहली कहानी माना है और उसे बंगला-गल्प के ढंग की

कहानी कहा है ('माधवप्रसाद निबन्धमाला', निवेदन, पृष्ठ ४)। लेकिन गोस्वामी जी की भाँति मिश्र जी की यह तथा अन्य कहानियाँ भी आख्यायिका के ढंग की हैं। 'सरस्वती' के प्रथम चार अंकों में शेक्सपीयर के नाटकों का आख्यायिका-रूप में अनुवाद हुआ था। साथ ही बंगला-कहानियाँ भी अनूदित होकर हिन्दी में आई थीं; वैसे ही, जैसे उपन्यास आये थे। संस्कृत के 'रत्नावली', 'मालविकाग्निमित्र' आदि नाटकों के अनुवाद भी प्रकाशित हुए थे। सारांश यह कि हिन्दी-कहानी का आरंभ आख्यायिका के रूप में हुआ।

सन् १६०६ से हिन्दी-कहानी का रूप बदला। पं० वेंकटेश-नारायण-कृत 'एक अशरफी की आत्म-कहानी', यशोदानन्दन अखौरी-कृत 'इत्यादि की आत्म-कहानी', महेन्दुलाल गर्ग-कृत 'पेट की आत्म-कहानी', लाला पार्वतीनन्दन-कृत 'मेरा पुनर्जन्म' और 'एक एक के दो दो', बंग महिला-कृत 'दुलाई वाली' और 'कुम्भ में छोटी बहू', मधुमंगल-कृत 'भुतही कोठरी', वृन्दावनलाल-वर्मा-कृत 'राखीबन्द भाई' तथा 'तातार और एक वीर राजपूत', मैथिलीशरण गुप्त-कृत 'नकली किला' और 'निन्यानवे का फेर' आदि कहानियाँ सन् १६०६ तक आत्म-कथात्मक या वर्णनात्मक शैली में लिखी गईं; उनमें से बंग महिला, पार्वती नन्दन आदि की कहानियों में आधुनिक कहानी के गुण मिलते हैं। 'सरस्वती' और 'सुदर्शन' के बाद १६०६ में काशी से 'इन्दु' मासिक प्रकाशित हुआ, जिसमें १६१० में प्रसाद की प्रथम मौलिक कहानी 'ग्राम' निकली। 'इन्दु' में ही विश्वम्भरनाथ जिज्जा ने अंग्रेजी कहानियों के रूपान्तर प्रकाशित कराये और 'इन्दु' में ही पारसनाथ त्रिपाठी ने 'प्रवासी' से बंगला-कहानियों के अनुवाद छपाये। यों 'इन्दु' में अंग्रेजी और बँगला कहानियों के अवतरित होने से हिन्दी-कहानी को भी गति मिली।

सन् १६१२ में प्रसाद जी की दूसरी कहानी 'रसिया बालम' निकली, जो प्रसाद की भावुकता और कल्पनाशीलता का परिचय देती है। राजा राधिकारमणप्रसादसिंह-कृत 'कानों में कँगना' तथा पारसनाथ

त्रिपाठी-कृत 'सुख की मौत' से भावपूर्ण कहानियों की परम्परा आगे बढ़ी। इन कहानियों में भावुकता और मनोविज्ञान का अपूर्व सम्मिश्रण था। इनसे हिन्दी-कहानी को एक नई शैली मिली। सन् १९१५ में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की 'उसने कहा था', विश्वम्भरनाथ जिज्जा की 'विदीर्ण हृदय' और प्रेमचन्द की 'सौत' कहानी प्रकाश में आई। सन् १९१६ में प्रेमचन्द की 'पंच परमेश्वर' कहानी से हिन्दी कहानी को नई दिशा मिली। यह हिन्दी की प्रथम उच्च स्तर की आधुनिक कहानी है। विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक की 'रक्षा बन्धन', 'अनाथ बालिका', ज्वालादत्त शर्मा की 'तस्कर' तथा 'विधवा' और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की 'झलमला' आदि कहानियाँ इसी समय लिखी गई। सन् १९२८ में काशी से 'हिन्दी-गल्प-माला' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन हुआ, जिसने हिन्दी-कहानियों के विकास में बड़ा योग दिया। श्री जी० पी० श्रीवास्तव की 'मैं न बोलूंगी' उत्तम पुरुष में लिखी कहानी और इलाचन्द्र जोशी की 'सजनवा' नामक प्रथम कहानी इसी पत्र में छपीं। ये दोनों मनोवैज्ञानिक कहानियाँ थीं। आगे चलकर प्रसाद जी की भी 'पत्थर की पुकार', 'खण्डहर की प्रतिलिपि', 'उस पार का योगी', 'दुखिया' आदि कितनी ही कहानियाँ इसमें छपीं।

सन् १९१० से सन् १९१५-१६ तक का युग ऐसा है जिसमें कहानी बड़ी द्रुतगति से आगे बढ़ती प्रतीत होती है। लेकिन भावात्मक कहानियों तथा इक्की-दुक्की मनोवैज्ञानिक कहानियों को छोड़कर इनमें घटनात्मकता तथा आकस्मिकता के तत्त्वों का आधार लिया गया है। जीवन के किसी भी अंश को उसके यथार्थ परिवेश में रखकर कोई संदेश देना, जो कहानी का सबसे बड़ा गुण है, अभी दूर की बात थी। प्रसाद, पारसनाथ त्रिपाठी, वृन्दावनलाल वर्मा, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, ज्वालादत्त शर्मा, राजा राधिकारमणप्रसादसिंह आदि कहानी-लेखक अनजाने ही कहानी में विविध शैलियों का प्रयोग कर रहे थे। कोई निश्चित आदर्श उनके सामने न था। हाँ आख्यायिकापन

या बंगला अथवा अंग्रेजी साहित्य की नक़ल से कहानी हट रही थी और अपना मार्ग निश्चित कर रही थी, यह इन प्रतिभाशाली लेखकों की रचनाओं मे झलकता है। कहानी को मनोविज्ञान के आधार पर चरित्र-प्रधान रचना बनाने में प्रेमचन्द का सबसे बड़ा हाथ है। उनकी 'पंच परमेश्वर' कहानी हिन्दी-कहानी के विकास में ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। इसीसे हिन्दी-कहानी अपना निश्चित, स्वाभाविक और सुन्दर रूप ग्रहण करती है। प्रेमचन्द के उदय तक हिन्दी-कहानी के **यथार्थवादी** और **भावात्मक** ये दो रूप स्पष्ट दिखाई देने लगे थे। इनमें से प्रथम के प्रवर्त्तक प्रेमचन्द और द्वितीय के प्रसाद थे। यद्यपि प्रसाद ने प्रेमचन्द से पहले लिखना प्रारम्भ किया था तथापि प्रेमचन्द की प्रतिभा के प्रकाश के कारण प्रसाद की भावात्मक कहानियों का अधिक प्रचलन न हो सका।

प्रेमचन्द—हिन्दी-कहानी को चरित्र-प्रधान, मनोवैज्ञानिक और यथार्थ-वादी रूप देने वाले प्रेमचन्द हैं। उन्होंने सब मिलाकर कोई तीन-सौ कहानियां लिखीं; जो कई संग्रहों में निकलीं। उनके कुछ संग्रहों के नाम हैं—'सप्त-सरोज', 'नवनिधि', 'प्रेम पचीसी', 'प्रेम पूर्णिमा', 'प्रेम द्वादशी', 'प्रेमतीर्थ' आदि। सरस्वती प्रेस से 'मानसरोवर' (६ भाग) नाम से इन सबका एक साथ संग्रह करने का प्रयत्न भी हुआ है। प्रेमचन्द की इन कहानियों पर आर्य समाज का सुधार-आन्दोलन, गांधीजी के व्यक्तित्व और आन्दोलन से उत्पन्न राष्ट्रीय चेतना और साम्यवाद इन तीनों का प्रभाव है। उनका सीधा सम्बन्ध भारतीय ग्राम, समाज और राष्ट्र से हैं। उन्होंने कहानी को वाह्य घटनाओं के जाल से मुक्त करके मानव-जीवन के अन्तराल में प्रवेश किया। उन्होंने चरित्र-प्रधान, वातावरण-प्रधान, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक आदि सभी प्रकार की कहानियाँ लिखीं। उन सब कहानियों में उनकी दृष्टि मध्यवर्ग और विशेषतः निम्नमध्यवर्ग की ओर रही है। दलित-पीड़ित वर्ग की प्रत्येक समस्या को उन्होंने कहानियों में समाविष्ट किया है। इनके पात्र अपने वर्ग की समस्याओं का प्रतिनिधि बनकर आते हैं। यथातथ्य-चित्रण पर

प्रेमचन्द की विशेषता है। उनकी सरल, चुस्त और प्रभावशाली भाषा को लोग 'प्रेमचन्दी भाषा' कहते हैं। उस पर उनके व्यक्तित्व की छाप है। उनकी कहानियाँ भी उपन्यासों की भाँति सोद्देश्य हैं और 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' उनका भी लक्ष्य है। 'राजा हरदौल', 'रानी सारन्धा', 'बड़े घर की बेटी', 'सुजान भगत', 'अलगोझया', 'बूढ़ी काकी', 'पूस की रात' 'शतरंज के खिलाड़ी', 'आत्माराम', 'नमक का दारोगा', 'दो बैलों की कथा', 'कफन' आदि उनकी श्रेष्ठ कहानियाँ हैं; जिनमें उनकी कला का क्रमशः निखार हुआ है।

प्रेमचन्द के वर्ग में सर्वश्री **चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, सुदर्शन, ज्वालादत्त शर्मा** आदि प्रमुख हैं। गुलेरी जी ने केवल तीन कहानियाँ लिखीं हैं। उनमें भी 'उसने कहा था' विशेष प्रसिद्ध है, जो एक आदर्श प्रेम की मार्मिक गाथा है। प्रेमचन्द के उदय के पहले जब कहानी का कोई आदर्श न था 'उसने कहा था'-जैसी कहानी लिखकर कहानी का स्वतंत्र रूप सामने रखना निस्सन्देह महत्त्व की बात थी। पात्रानुकूल भाषा-शैली और नाटकीयता ने इस कहानी को हिन्दी की अमर कहानी बना दिया है। **कौशिक जी** पारिवारिक कहानियों के लेखक हैं और प्रेमचन्द के आदर्श को लेकर चलते हैं। 'चित्रशाला' और 'कला मन्दिर' आपके कहानी-संग्रह हैं; और 'ताई', 'काकी', 'पत्नी', 'न्याय' आदि आपकी प्रमुख कहानियाँ हैं—जिनमें 'ताई' अपनी मनोवैज्ञानिकता के कारण अमर है। सुधार इनकी कहानियों का लक्ष्य है। **'सुदर्शन'** प्रेमचन्द के बाद उनके वर्ग के सबसे बड़े लेखक हैं। वे भी प्रेमचन्द की भाँति ही उर्दू से हिन्दी में आये हैं। उनकी भाषा-शैली वही है, जो प्रेमचन्द की है। 'सुदर्शन-सुमन', 'सुदर्शन-सुधा', 'तीर्थयात्रा', 'पनघट' आदि आपके कहानी-संग्रह हैं। यद्यपि प्रेमचन्द की भाँति जीवन की गहराई में आप नहीं जाते तथापि वे जीवन के सत्य का उद्घाटन बड़े ही संतुलित ढंग से करते हैं। 'हार की जीत', 'एथेंस का सत्यार्थी', 'सूरदास', 'संसार की सबसे पहली कहानी', 'सुप्रभात', 'कवि की स्त्री'

आपकी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं। **ज्वालादत्त शर्मा** ने व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन के संघर्ष का चित्रण किया है। ये भी कौशिकजी की तरह पारिवारिक समस्याओं पर अपना ध्यान केन्द्रित रखते हैं। 'अनाथ बालिका' उनकी उत्कृष्ट कहानी है।

प्रसाद—प्रेमचन्द की कहानियों के साथ-साथ प्रसाद की कहानियों का भी प्रकाशन हो रहा था। प्रसाद मूलतः कवि थे; अतः उनकी कहानियों में करुणा, प्रेम, सौंदर्य विधवा आदि की झलक मिलती है। उन्होंने कुल ६६ कहानियाँ लिखीं, जो 'छाया,' 'प्रतिध्वनि', 'आकाश दीप', 'आंधी', 'इन्द्रजाल' संग्रहों में आ गई हैं। वे भाव को केन्द्र बनाकर चलते हैं। वातावरण-प्रधान कहानियों के वे सर्वश्रेष्ठ लेखक हैं। लेकिन उन्होंने सामाजिक, ऐतिहासिक, चरित्र-प्रधान, यथार्थवादी, मनोवैज्ञानिक आदि दूसरे प्रकार की सुन्दर कहानियाँ भी लिखी हैं। भावुक होने के कारण प्रसाद ने अपनी कहानियों में एक काल्पनिक जगत् का निर्माण किया है, जिसमें घटना कम, चरित्र-चित्रण अधिक होता है। उनकी यथार्थवादी कहानियाँ भी सुन्दर हैं। मानव-हृदय की अनेक भावनाओं को उन्होंने अपनी कहानियों द्वारा छुआ है। उनका शिल्प और भाषा-शैली दोनों अद्वितीय हैं। कहीं-कहीं तो संवाद या दृश्य-चित्रण गद्य-काव्य हो गए हैं। 'आकाश दीप', 'पुरस्कार', 'समुद्र-सन्तरण', 'बिसाती', 'गुण्डा', 'मधुआ' आदि उनकी प्रतिनिधि कहानियाँ हैं।

प्रसाद के वर्ग के कहानी-लेखकों में **राजा राधिका रमण प्रसादसिंह, चण्डीप्रसाद 'हृदयेश', रायकृष्णदास, विनोदशंकर व्यास** आदि प्रमुख हैं। **राजाजी** ने कहानियाँ कम ही लिखी हैं, परन्तु वे सुन्दर हैं। प्रसाद की भाँति उनमें भावुकता का आधिक्य है। उन्हें उच्च से लेकर निम्न वर्ग तक की कहानियों में पूर्ण सफलता मिली है। उनकी भाषा अत्यन्त सुन्दर है। 'गांधी टोपी', 'सावनी समा' और 'कुसुमांजलि' में इनकी कहानियाँ संगृहीत हैं। 'कानों में कँगना', 'गांधी टोपी', 'दरिद्रनारायण', 'पैसे की घुघुनी', 'एक अनुभूति' आदि इनकी श्रेष्ठ कहानियाँ हैं। **'हृदयेश' जी**

सोलह आने प्रसादजी के अनुयायी हैं। 'नन्दन-निकुंज' और 'वनमाला' इनके कहानी-संग्रह हैं; और 'शान्तिनिकेतन', 'प्रतिज्ञा', 'प्रणय-परिपाटी', 'मौन व्रत' आदि उनकी प्रसिद्ध कहानियाँ। इनकी भाषा प्रसादजी से भी अधिक अलंकृत होती है। कहानियों में कथा-भाग कम कवित्वपूर्ण वातावरण, प्रकृति-चित्रण, कल्पना और सौंदर्य-बोध अधिक होते है। **राय साहब ने** सामाजिक, पौराणिक, अति प्राकृत, ऐतिहासिक, प्रतीकात्मक आदि कई प्रकार की कहानियां लिखी हैं, लेकिन शिल्प-विधान की दृष्टि से वे प्रसादजी के वर्ग में ही आते हैं। प्रतीकात्मक कहानी-लेखकों में वे अग्रगण्य माने जाते हैं। इनकी भाषा संस्कृत-गर्भित, काव्यमयी तथा व्यावहारिक है। 'सुधांशु', 'अनाख्या', 'आँखों की थाह' इनके कहानी-संग्रह हैं। 'प्रसन्नता की प्राप्ति', 'माँ की आत्मा', 'अन्तःपुर का आरम्भ', 'सम्राट् का सत्व' आदि इनकी कलात्मक रचनाएँ हैं। **व्यास जी** की कहानियों के छोटे-बड़े कई संग्रह हैं। उनकी अधिकांश रचनाएँ 'मधुकरी' (२) में संग्रहीत हैं। ये भावुकता में प्रसाद के उत्तराधिकारी हैं। दीन-दुखी समाज का नग्न चित्रण, असफल प्रेम व्यंजना, देश-प्रेम की उत्कट लगन आदि इनकी कहानियों के मूल विषय हैं। शिल्प-विधान और भाषा-शैली की दृष्टि से ये प्रसादजी से मिलते-जुलते हैं।

प्रेमचन्द और प्रसाद की यथार्थवादी तथा भावमूलक कहानियों की परम्परा बराबर चलती रही। उनमें अनेक लेखकों ने योग दिया। लेकिन जैसे उपन्यास के क्षेत्र में नग्न यथार्थ का चित्रण **पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'** और **चतुरसेन शास्त्री** आदि ने प्रेमचन्द की आदर्शोन्मुख यथार्थवादी प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया के रूप में आरम्भ किया था, वैसा ही कहानी के क्षेत्र में भी हुआ। ये दोनों लेखक समाज की अनैतिक स्थिति का खुला चित्रण करते हैं। **उग्रजी** ने 'दोजख की आग', 'बलात्कार', 'सनकी अमीर' आदि संग्रहों में ऐसी ही कहानियाँ दी हैं। यद्यपि उग्रजी ने प्रसाद की शैली की भावमूलक रचनाएँ भी लिखी हैं, पर वे नग्न यथार्थवादी कहानियों के लिए प्रसिद्ध हैं। हिन्दू-मुस्लिम-एकता और सामाजिक तथा

राजनैतिक विषयों पर भी उन्होंने कहानियां लिखी हैं, जिनमें 'देश-भक्ति' कहानी बहुत प्रसिद्ध है। आचार्यजी भी उग्रजी की भाँति समाज के कुरूप अंगों को उभारकर सामने रखते हैं। 'रज-कण', 'अक्षत', 'दुखवा मैं कासों कहूँ मोरी सजनी', 'दे खुदा की राह पर' आदि उनकी कहानियों के संग्रह हैं। ये लौह लेखनी के धनी कहे जाते हैं। वस्तुतः मार्मिक और तीखी भाषा लिखने वाले ये दोनों लेखक हिन्दी के अभिनव शैलीकार हैं।

जैनेन्द्रकुमार—प्रेमचन्द और प्रसाद के बाद हिन्दी-कहानी को नई दिशा देने वालों में जैनेन्द्रकुमार का प्रमुख स्थान है। इन्होंने लगभग २०० कहानियाँ लिखी हैं, जिनका संग्रह 'फाँसी', 'दो चिड़ियाँ', 'स्पर्द्धा', 'वातायन', 'एक रात', 'नीलम देश की राज-कन्या', 'ध्रुवयात्रा' आदि में हुआ है। यों तो इनकी कहानियाँ व्यक्ति, परिवार, वर्ग तथा समाज के यथार्थ जीवन से सम्बन्ध रखती है, किन्तु इनके पीछे एक दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक का दृष्टिकोण प्रमुख है। सांस्कृतिक अथवा नैतिक प्रेरणा से लिखी गई कहानियों में इनका दार्शनिक चिन्तन और व्यक्ति-मानस के विश्लेषण की प्रेरणा से लिखी गई कहानियों में मनोवैज्ञानिक तत्त्व मिलते हैं। इनकी कहानियों में समाज की समस्याओं को घटनाओं और पात्रों के माध्यम से उपस्थित करके सूक्ष्म सिद्धान्त और नैतिक आध्यात्मिक संकेत ग्रहण किये जाते हैं। ये एक-दो पात्र या परिस्थिति से कहानी का निर्माण करते हैं। कथानक गढ़ना उनका लक्ष्य नहीं होता, बल्कि वे जीवन की व्याख्या करना अपना कार्य मानते हैं। भाषा के गम्भीर और सरल दोनों रूप मिलते हैं, पर सर्वत्र अप्रयास लिखी भाषा मिलती है। छोटे वाक्य, सरल शब्द, बोल-चाल की भाषा का पुट—ये उनकी भाषा-शैली के गुण हैं। 'जाह्नवी', 'अपना-पराया', 'वीएट्रिस', 'राजपथिक', 'भद्रबाहु', 'मास्टरजी', 'एक रात' आदि इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

अज्ञेय—जैनेन्द्रजी ने प्रेमचन्द जी की चरित्र-प्रधान कहानियों को मनोविज्ञान की गहराई दी, पर वे उनके आदर्शवाद को लेकर ही चले।

अज्ञेय ने आतंकवादी के रूप में जीवन प्रारम्भ किया था, जो गांधीवाद (जिसके कि प्रेमचन्द और जैनेन्द्र दोनों अनुयायी रहे) से सैद्धान्तिक रूप में भिन्न है। अतः अज्ञेय की मनोवैज्ञानिक कहानियां जैनेन्द्र से आगे की हैं। वे फ्रायड से प्रभावित हैं। 'विपथगा', 'परम्परा', 'कोठरी की बात', 'जयदोल' आदि कहानी-संग्रहों में उनकी कहानियों का संग्रह हुआ है। प्रत्येक कहानी में जीवन के अन्तःसंघर्ष का चित्र रहता है। अज्ञेय कवि भी हैं, अतः वैज्ञानिक विश्लेषण में भी वे भावुकता से सम्पर्क नहीं छोड़ पाते। उन्होंने देश-काल के अनुसार जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का चित्रण किया है। अपने व्यक्तिगत जीवन के अनुभवों के प्रकाश में समाज की समस्याओं का विश्लेषण करना उनकी प्रमुख विशेषता है। 'रोज़', 'अमर-वल्लरी', 'शान्ति हँसी थी', 'विपथगा', 'नई कहानी का प्लाट' आदि उनकी श्रेष्ठ कहानियां हैं।

इलाचन्द्र जोशी—जोशी जी भी अज्ञेय की भांति फ्रायड के मनोविश्लेपण-शास्त्र से प्रभावित हैं। 'दिवाली और होली', 'धूपलता' आदि इनके संग्रह हैं और 'मेरी डायरी के दो नीरस पृष्ठ', 'मिस्त्री', 'रोगी', 'एक शराबी की आत्म-कथा', 'चौथे विवाह की पत्नी', 'प्रेतात्मा', 'होली', 'परित्यक्ता' आदि इनकी महत्त्वपूर्ण कहानियां हैं। जोशी जी व्यक्ति और समाज के ह्रासोमुख जीवन का विश्लेपण और चित्रण तो करते ही हैं, व्यक्ति के अहं पर मार्मिक प्रहार करना भी इनकी कहानियों का लक्ष्य है। ये बौद्धिक स्तर पर अपने पात्रों का विश्लेपण करते हैं। इनकी कहानियों का वातावरण यथार्थवादी होता है।

यशपाल—जैनेन्द्र, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी ने कहानी को व्यक्ति पर केन्द्रित करके मनोविश्लेपण-शास्त्र की प्रयोगशाला बना दिया और एक बार को जन-जीवन का चित्रण उपेक्षित-सा होने लगा। तभी हिन्दी-कहानी-जगत् में यशपाल का उदय हुआ। यद्यपि यशपाल भी अज्ञेय की भांति आतंकवादी रहे हैं तथापि उनमें अज्ञेय की व्यक्तिवादिता के विपरीत सामाजिक तत्त्वों की प्रधानता है। उन्होंने प्रेमचन्द की यथार्थ-

वादी परम्परा को दृढ़ता से शक्तिशाली बनाया है। 'पिंजरे की उड़ान', 'ज्ञानदान', 'वो दुनिया', 'तर्क का तूफान', 'अभिशप्त', 'भस्मावृत चिनगारी', 'फूलों का कुर्ता', 'उत्तमी की माँ', 'धर्म-युद्ध' आदि उनके कहानी-संग्रह हैं, जिनमें सामाजिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, पौराणिक, प्रतीकात्मक, हास्य-व्यंग-प्रधान आदि सभी प्रकार की कहानियाँ हैं। साम्यवादी विचार-धारा के आधार पर इन कहानियों में वर्तमान समाज, राजनीति, अर्थ-व्यवस्था, धर्म, नीति आदि की आलोचना की गई है और शोषक-शोषित का संघर्ष प्रखर हुआ है। व्यक्ति, परिवार और समाज की बहुविध झाँकी इनकी कहानियों में मिलती है। प्रेमचन्द की भाँति इनकी दृष्टि बड़ी ही व्यापक है। इनकी कहानियों में आधुनिक भारत की पूरी तसवीर मिल जाती है। इनकी भाषा-शैली जन-कलाकारोचित है। वे प्रेमचन्द के बाद अपने ढंग के सर्वश्रेष्ठ कहानीकार हैं।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'—यशपाल के बाद 'अश्क' ने हिन्दी-कहानी को यथार्थवाद की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर रूप में सँवारा है। हाल ही में उन्होंने 'सत्तर कहानियाँ' नाम से अपना एक वृहत् कहानी-संग्रह छापा है। मध्यवर्गीय समाज की समस्याओं तथा संवेदनाओं को कहानी का विषय बनाकर अश्क ने प्रेमचन्द की परम्परा को दृढ़ किया। चरित्र-चित्रण, भाषा, संवाद आदि की सुन्दर योजना इनकी कहानियों में पाई जाती है। इनके चरित्र साधारण और विशेष दोनों प्रकार के हैं। ये मनोरंजन और हास्य-व्यंग-प्रधान कहानियों में भी समाज की विकृति को लक्ष्य में रखते हैं।

मनोवैज्ञानिक और यथार्थवादी दोनों धाराओं के प्रभाव से अनेक कहानीकारों ने अपनी-अपनी अलग शैलियाँ लेकर कहानियाँ लिखीं। इन दोनों प्रकार की कहानियों में यथार्थवादी धारा का ही अधिक अनुकरण हुआ। यथार्थवादी परम्परा में **राहुल सांकृत्यायन, भगवतशरण उपाध्याय** और **रांगेय राघव** के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें प्रथम दो ने प्रागैतिहासिक काल की कहानियों में समाजवादी तत्त्वों की खोज

की है। तीसरे ने जन-जीवन की समस्याओं को निकट से देखा है। इस धारा के अन्य लेखकों में विष्णु प्रभाकर, रहबर, अमृतराय, अमृतलाल नागर, गंगाप्रसाद मिश्र, मोहनसिंह सेंगर, त्रिलोचन आदि प्रमुख हैं।

मनोविश्लेषणवादी धारा में जैनेन्द्र, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी के बाद पहाड़ी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये फ्रायड से पूरी तरह प्रभावित हैं। इन्होंने समाज की अनीति, दुश्चरित्रता आदि का नग्न प्रदर्शन किया है। इनमें कहीं-कहीं अश्लीलता है और इनका दृष्टिकोण अस्वस्थ है।

इन दो धाराओं के अतिरिक्त प्रसाद की भावुकतापूर्ण कहानियों और प्रेमचन्द की यथार्थवादी कहानियों की धाराएँ भी चलती रही हैं। उनमें सर्वश्री **गोविन्दवल्लभ पन्त, मोहनलाल महतो, कमलाकान्त वर्मा** ने प्रसाद की परम्परा की कहानियाँ लिखी हैं और **वृन्दावनलाल वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार** आदि प्रेमचन्द की परंपरा में कार्य करते रहे हैं। इनमें वाजपेयीजी, भगवतीचरण वर्मा और चन्द्रगुप्त ने अपने युग की विकसित कहानी-कला के तत्त्वों को भी ग्रहण किया है, जबकि वृन्दावनलाल वर्मा आदर्शवादी कहानियाँ ही लिखते आ रहे हैं। इस परम्परा में निराला जी की कहानियाँ भी महत्त्व की हैं।

इनके अतिरिक्त हास्य और व्यंग की कहानियाँ भी बहुत लिखी गई हैं। इस क्षेत्र में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य जी० पी० श्रीवास्तव ने किया है। जिन्होंने सन् १९११ से 'पिकनिक' कहानी से हास्य-प्रधान कहानियों का प्रारंभ किया था। उन्होंने 'लतखोरीलाल', 'भड़ामसिंह शर्मा'-जैसी अच्छी कहानियाँ लिखीं। लेकिन उनके हास्य में शिष्टता कम है। अन्य हास्य-कहानियाँ लिखने वालों में बेढब बनारसी, अन्नपूर्णानन्द वर्मा, राधाकृष्ण, अमृतलाल नागर और जयनाथ 'नलिन' के नाम महत्त्वपूर्ण हैं। ये सब उच्चकोटि के हास्य-व्यंगकार हैं।

हिन्दी-कहानी को कुछ उच्चकोटि की महिला-लेखिकाओं ने भी समृद्ध किया है। सबसे पहले श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान ने 'उन्मादिनी'

और 'बिखरे मोती' द्वारा कहानी-क्षेत्र में प्रवेश किया था। उनके बाद उषादेवी मित्रा, तेजरानी पाठक, होमवती देवी, सत्यवती मल्लिक, कमला त्रिवेणीशंकर, चन्द्रकिरण सोनरिक्शा और रजनी पनिकर के नाम महिला-लेखिकाओं में उल्लेखनीय हैं।

आज जो कहानी-लेखक तेजी से कहानियाँ लिख रहे हैं, उनमें सर्वश्री राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, कमल जोशी, कमलेश्वर, मार्कण्डेय, अमरकान्त, निर्मल वर्मा, कुलभूषण, शेखर जोशी, शिवप्रसादसिंह, भैरवप्रसाद गुप्त, कीर्ति चौधरी, मन्नू भण्डारी आदि दर्जनों ऐसे कहानीकार हैं, जिनमें कई ने पुराने कहानीकारों से भी अच्छी कहानियाँ लिखी हैं। इनमें दो दल हैं—एक तो राजेन्द्र यादव और मोहन राकेश-जैसे मध्यवर्गीय शहरी जीवन के कलाकारों का है, और दूसरा शिवप्रसादसिंह और भैरवप्रसाद गुप्त-जैसे ग्रामीण जीवन के चित्रकारों का। अभिप्राय यह कि भावुकता या मनोविश्लेषण की व्यक्तिवादी प्रवृत्ति और यथार्थ चित्रण की समाजवादी प्रवृत्ति का द्वन्द्व बदस्तूर कायम है। हर्ष यह है कि शहरी और ग्रामीण दोनों क्षेत्रों के कथाकार निर्माणात्मक प्रवृत्तियों से परिचालित हैं।

यदि कहानी के आरंभ से लेकर आज तक के शिल्प पर विचार करें तो हम देखेंगे कि पहले घटना-प्रधान कहानियों में कथानक की प्रधानता रहती थी और संयोग-तत्त्व का आश्रय लिया जाता था। उसके बाद चरित्र-प्रधान कहानियों ने कथानक को कम करके बाह्य और आन्तरिक संघर्ष को महत्त्व दिया। इसके साथ ही प्रकृति-वर्णन, रूप-वर्णन आदि की प्रवृत्ति भी चलती रही। तीसरी अवस्था में मनोविश्लेषण की प्रधानता ने कथानक को और भी छोटा कर दिया और अब केवल एक सामान्य उक्ति या बात को मनोविश्लेषण का अंग बनाकर कहानी खड़ी की जाने लगी। बिलकुल नई कहानी समस्यामूलक है और उसका रूप सांकेतिक हो गया है। वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर होती जा रही है।

मौलिक कहानियों के अतिरिक्त अनुवाद भी बराबर होते रहे हैं।

मोपांसा, चेखव, तुर्गनेव से लेकर हेमिंग्वे तक अनेक विदेशी कहानीकारों की कहानियाँ हिन्दी में आई हैं। मराठी, बंगला, गुजराती आदि उत्तरी और तमिल, तेलगू, मलयालम आदि दक्षिण भारतीय भाषाओं की भी अनेक कहानियाँ अनूदित हो चुकी हैं।

सब मिलाकर हिन्दी-कहानी आज विकास की उस सीमा पर पहुँच गई है, जहाँ से वह किसी भी देश की सुन्दरतम कहानियों से टक्कर ले सकती है।

७

निबन्ध

हिन्दी-साहित्य में आज जो निबन्ध मिलते हैं वे पश्चिम की देन हैं। कारण, संस्कृत में गद्य-प्रबन्ध, टीकाएँ और आख्यायिकाएं तो मिलती हैं, पर निबन्ध नहीं मिलते। हिन्दी-निबन्ध-लेखकों के समक्ष प्राय: अंग्रेजी निबन्धकार आदर्श रहे हैं। अंग्रेजी में निबन्ध को 'एसे' कहते हैं। यों भी कहा जा सकता है कि अंग्रेजी 'एसे' के लिए 'निबन्ध' शब्द का प्रयोग होने लगा है। अंग्रेजी का 'एसे' फ्रांसीसी शब्द 'एसाई' से निकला है, जिसका अर्थ होता है प्रयास या प्रयत्न। इसका तात्पर्य यह निकला कि 'एसे' का अर्थ है अभीष्ट विषय के प्रतिपादन का प्रयत्न करना। इसके विपरीत 'निबन्ध' शब्द संस्कृत का है, जिसका अर्थ होता है 'पूर्णतः-गठित' (नि = पूर्ण रूप से + बंध = गठित या कसा हुआ)। अंग्रेजी 'एसे' की परिभाषा करते हुए डॉक्टर जान्सन ने उसे 'मन की मुक्त भटकन' (लूज स्टाइल ऑफ दी माइण्ड) कहा है और अंग्रेजी के प्रथम निबन्धकार बेकन ने उसे 'बिखरा चिन्तन' (डिस्पर्स्ड मैडीटेशन) कहकर पुकारा है। आचार्य शुक्ल ने निबन्ध को गद्य की कसौटी मानकर अंग्रेजी लेखकों की उक्त बात को अस्वीकार किया है। पाश्चात्य निबन्ध-लेखक निबन्ध में व्यक्तित्व का प्रतिफलन आवश्यक मानते हैं और विषय की उपेक्षा-सी करते हैं। स्वयं मोन्टेन, जिसने आधुनिक निबन्ध को जन्म दिया, अपने निबन्धों के बारे में कहता है कि मैंने अपने निबन्धों में अपनी ही तसवीर बनाई है। हमारे यहाँ व्यक्तित्व का ऐसा प्रकाशन

लज्जा का विषय माना जाता रहा है; अतः विषय-निरूपण के साथ स्वाभाविक रूप में व्यक्तित्व का जितना अंश प्रकाशित हो सके वह ग्राह्य है।

'निबन्ध' से मिलता-जुलता शब्द 'प्रबन्ध' भी है। वह भी सुगठित होने का अर्थ लिये हुए है। निबन्ध अपेक्षाकृत छोटा होता है जब कि प्रबन्ध में व्यापकता और विस्तार होता है। अंग्रेजी में 'प्रबन्ध' के लिए 'थीसिस' या 'ट्रीटाइज' शब्दों का प्रयोग होता है। प्रकार-भेद से निबन्ध वर्णनात्मक, भावात्मक और विचारात्मक चार प्रकार से माने जा सकते हैं। **वर्णनात्मक** निबन्धों में 'देश' में सीमित अर्थात् स्थिर दृश्यों या दर्शनीय स्थानों का वर्णन रहता है, **विवरणात्मक** में 'काल' में सीमित अर्थात् गत्यात्मक पदार्थों—युद्ध, यात्रा, स्वप्न आदि का वर्णन करेगा। इन दोनों में कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है। **भावात्मक** निबन्धों में किसी भाव को मूर्त्त करने का प्रयत्न होता है, जिसकी अनुभूति की सघनता और रागात्मक तत्त्व प्रधान होता है। **विचारात्मक** निबन्धों में बुद्धि की प्रधानता होने से तर्क या चिन्तन का बल रहता है, जो पाठक में नई विचार-धारा जाग्रत करता है। कुछ सुधी समीक्षक **'वैयक्तिक निबन्ध'** नाम से एक अलग प्रकार भी मानते है, जिसमें लेखक का अपना जीवन अथवा अपने से सम्बन्धित घटनाएँ या व्यक्ति विषय से अधिक प्रमुखता प्राप्त करके लेखक के जीवन को ही व्यक्त करते हैं। निरूपित विषय और शैली के आधार पर भी निबन्धों के भेद करने का प्रयत्न किया जाता है। शुक्लजी ने निबन्धों के **भावात्मक** और **विचारात्मक** दो ही मुख्य भेद माने हैं

हिन्दी में निबन्धों का आरम्भ, अन्य विधाओं की भाँति भारतेन्दु युग में हुआ और उनके विकास में पत्र-पत्रिकाओं का विशेष हाथ रहा। 'उदंत मार्तण्ड' (१८२६), 'प्रजामित्र' (१८३४), 'बनारस अखबार' (१८४५), 'सुधाकर' (१८५०), 'बुद्धिप्रकाश' (१८५५), 'प्रजा हितैषी' (१८५५), 'कविवचन सुधा' (१८६८) आदि पत्रों में सामाजिक

राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और शैक्षिक विषयों पर टिप्पणियाँ और लेख निकलते थे। ये ही हिन्दी-निबन्ध के पूर्वज कहे जा सकते हैं। कुछ लोग सदासुखलाल द्वारा लिखित 'सुरासुर निर्णय' (सन् १७८२) को हिन्दी का प्रथम निबन्ध मानते हैं। 'सुरासुर निर्णय' में निबन्ध की कुछ विशेषताएँ भी हैं। यह सब होते हुए भी निबन्ध का विधिवत् आरंभ भारतेन्दु-युग में हुआ।

भारतेन्दु ने सन् १८७० में 'कवि वचन सुधा' में 'उदारता' और 'परदा' शीर्षक से दो निबन्ध प्रकाशित किये थे। उसके बाद 'हिन्दी कविता', 'मणि कर्णिका', 'काशी' आदि कितने ही निबन्ध उन्होंने लिखे। वस्तुतः भारतेन्दु देश और समाज की गिरी हुई दशा से बहुत दुखी थे, इसलिए वे अपने निबन्धों में साहित्य, समाज, राजनीति, इतिहास, खोज, यात्रा, जीवन-चरित आदि अनेक विषयों पर युगानुकूल विचार करते थे। 'नाटक' उनका प्रथम शास्त्रीय आलोचनात्मक विस्तृत निबन्ध है, तो 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' हास्य-व्यंग-प्रधान निबन्ध का सूत्रपात करता है। 'वैष्णवता और भारतवर्ष', 'ईशू खृष्ट या ईशू कृष्ण' उनके सांस्कृतिक निबन्ध हैं। उनके निबन्धों में विषय और शैली की विविधता मिलती है।

भारतेन्दु-युग की परम्परा का विकास **पं० बालकृष्ण भट्ट** और **प्रतापनारायण मिश्र** में दिखाई देता है। ये दोनों भारतेन्दु के समकालीन थे। **बालकृष्ण भट्ट** भारतेन्दु की भाँति विविध-विषयक निबन्ध-लेखक हैं। भावात्मक निबन्ध की दृष्टि से उनका 'चन्द्रोदय' द्रष्टव्य है, तो 'मुग्ध माधुरी या पौगण्ड वा किशोर' में भावात्मकता के साथ विचारात्मकता भी है। 'खटका', 'इंग्लिश पढ़े तो बाबू होय', 'रोटी तो किसी भाँति कमा खाय मुछन्दर' आदि में हास्य-व्यंग और मस्ती मिलती है। 'साहित्य जन-समूह के हृदय का विकास है' या 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'-जैसे निबन्धों में गांभीर्य का परिचय मिलता है। 'आत्म-निर्भरता', 'माधुर्य', 'आशा' आदि मनोवृत्तिपरक निबन्धों में आचार्य शुक्ल की परम्परा का प्रारम्भ मिलता है। भाषा-शैली के भी विविध रूप मिलते हैं। समग्रतः उनकी भाषा

अपने युग की सशक्त भाषा है। सामान्य व्याकरण-दोषों या पूर्वी प्रयोगों को छोड़कर उनकी भाषा में प्रांजलता और सफाई है। **प्रतापनारायण मिश्र** भारतेन्दु-युग की मस्ती, फक्कड़पन और अक्खड़पन की सजीव प्रतिमा थे। जैसे मनोरंजक और चुभते हुए व्यंग से पूर्ण निबन्ध उन्होंने लिखे, वैसा फिर कोई नहीं लिख सका। 'भौं', 'दांत', 'पेट', 'नाक' आदि पर उनके विनोदपूर्ण निबन्ध हैं, तो 'समझदार की मौत है', 'टेढ़ जानि शंका सब काहू' आदि व्यंगपूर्ण। 'आतमीयता', 'चिन्ता' आदि भावात्मक हैं तो 'मनोयोग', 'सोने का डंडा', 'नास्तिक' आदि विचारात्मक। यों इनकी लेखनी भी हर दिशा में चली है। मुहावरे और कहावतें इनकी भाषा की जान हैं। घरेलूपन, चंचलता और उछल-कूद इनकी भाषा-शैली में खूब है।

बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र के अतिरिक्त भारतेन्दु-युग के अन्य निबन्धकारों में **बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'** और **राधाचरण गोस्वामी** के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। **प्रेमघन** अपने युग की सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं को अपने निबन्धों द्वारा व्यक्त करते थे। 'नागरी नीरद' और 'आनन्द कादम्बिनी' पत्रिकाओं के सम्पादक के नाते उन्होंने पर्याप्त निबन्ध लिखे। 'परिपूर्ण पावस', 'उत्साह आलम्बन', 'हिन्दी भाषा का विकास' आदि निबन्धों में उन्होंने संस्कृत-गर्भित भाषा का प्रयोग किया है। बहुधा वे कवित्वमय और आलंकारिक भाषा लिखते हैं। **राधाचरण गोस्वामी** के 'यमपुरी की यात्रा' और 'स्वर्ग की सैर' निबन्ध महत्त्वपूर्ण हैं। इनके निबन्धों में व्यंग की मात्रा बहुत रहती है। भाषा गठी हुई, और शैली सरल तथा सुबोध है। वैष्णव होते हुए भी उनकी रचनाओं में सुधारक-वृत्ति झलकती है।

सन् १९०० में 'सरस्वती' और उसके साथ ही 'सुदर्शन' के प्रकाशन से हिन्दी-निबन्ध को और भी गति मिली। गद्य-शैली में प्रौढ़ता आई और भाषा को स्थिरता मिली। इस युग में निबन्ध को पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त दो अनूदित पुस्तकों से बड़ा बल मिला। उनमें से एक थी 'बेकन विचार रत्नावली' और दूसरी 'निबन्धमालादर्श'; जो क्रमशः

आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी और पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री द्वारा बेकन (अंग्रेजी) और चिपलूणकर (मराठी) से अनूदित होकर आई थीं। लेकिन द्विवेदी-युग भाषा-परिष्कार का ही नहीं, नैतिक पुनरुत्थान का भी था। परिणामस्वरूप जीवन में गांभीर्य और शालीनता ने लेखकों की वह जिन्दादिली छीन ली, जो भारतेन्दु-युग का प्राण थी। स्वयं द्विवेदी जी के निबन्ध उपदेशात्मक या सूचनात्मक अधिक हैं। 'रसज्ञ-रंजन' के विचारात्मक निबन्धों के अतिरिक्त उन्होंने कुछ वर्णनात्मक निबन्ध भी लिखे हैं। 'मेघदूत'-जैसे कुछ निबन्धों में कवित्व भी है। वैसे वे युग-निर्माता अधिक हैं, उच्चकोटि के साहित्यकार नहीं।

द्विवेदी-युग में **माधवप्रसाद मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, गोविन्दनारायण मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, श्यामसुन्दरदास, पद्मसिंह शर्मा, अध्यापक पूर्णसिंह** आदि ने निबन्धों की परम्परा को आगे बढ़ाने में अच्छा योग दिया। 'सुदर्शन' पत्र के सम्पादक **पं० माधवप्रसाद मिश्र** ने भारतेन्दु-युग से चली आती पर्व-त्योहारों की निबन्ध-परम्परा को जीवित रखा; और 'श्री पंचमी', 'कुम्भ पर्व', 'विजया दशमी', 'रामलीला' आदि पर निबन्ध लिखे। 'सब मिट्टी हो गया' उनका श्रेष्ठतम भावात्मक निबन्ध है, जो एक बच्चे के मुँह से निकले एक वाक्य पर आधारित है, देश-प्रेम और भारतीय संस्कृति की झलक उनमें बराबर मिलती है। उनकी भाषा साफ-सुथरी और तत्सम-शब्द-प्रधान है, जो प्रसंगानुकूल बदलती रहती है। **बालमुकुन्द गुप्त** में भारतेन्दु-युग की व्यंगपूर्ण शैली का निखरा हुआ रूप मिलता है। 'शिव शम्भू का चिट्ठा' उनकी महत्त्व-पूर्ण देन है। 'बनाम लार्ड कर्जन', 'श्रीमान् का स्वागत', 'वैसराय का कर्तव्य', 'आशा का अन्त', 'मेले का ऊँट' आदि में उनका राष्ट्र-प्रेम सराहनीय है। उनकी भाषा सजीव, चलती हुई और विनोदपूर्ण है, जिसमें कभी गंभीरता, कभी चित्रांकन-क्षमता और कभी भावुकता के दर्शन होते हैं। **गोविन्दनारायण मिश्र** हिन्दी में बाणभट्ट की कादम्बरी-शैली की छटा दिखाने के लिए प्रसिद्ध हैं। इनकी भाषा में

शब्दाडम्बर की प्रधानता है। 'कवि और चित्रकार', 'आत्माराम की टें टें', 'विभक्ति-विचार' आदि इनके विचारात्मक निबन्ध हैं; जिनमें सामाजिक पदावली और लम्बे-लम्बे वाक्यों के वन में पाठक के हाथ कुछ नहीं पड़ता। **चन्द्रधर शर्मा गुलेरी** ने 'कछुआ धरम', 'मारेसि मोहिं कुठाँव', 'संगीत'-आदि निबन्ध लिखे हैं। मौलिक चिन्तन, सूक्ष्म विश्लेषण और गहरा व्यंग उनके निबन्धों की विशेषताएँ हैं। उनकी भाषा टकसाली है और शैली प्रासादिकता लिये हुए।

बाबू श्यामसुन्दरदास को हिन्दी में 'साहित्यालोचन' तथा 'भाषा-विज्ञान'-जैसे साहित्य-शास्त्रीय ग्रंथ लिखने से कम अवकाश मिला, उन्होंने 'समाज और साहित्य', 'भारतीय साहित्य की विशेषताएं', 'कर्तव्य और सत्यता' आदि विचारात्मक निबन्ध लिखे। उनमें भाषा का द्विवेदीजी से भी अधिक संस्कृतमय, किन्तु स्पष्ट रूप मिलता है। उसमें अरबी-फारसी के शब्द और मुहावरों का पूर्ण बहिष्कार रहता है। उनकी शैली में शुष्कता है; जो गंभीर विषयों पर अधिक लिखने का परिणाम है। तुलनात्मक समालोचना के प्रवर्त्तक **पं० पद्मसिंह शर्मा** के निबन्ध 'पद्म पराग' और 'प्रबन्ध मंजरी' में संकलित हैं। उन्होंने विचारात्मक तथा भावात्मक दोनों प्रकार के निबन्ध लिखे हैं। वे संस्कृत और अरबी-फारसी ही नहीं, अंग्रेजी शब्दों को लेकर ऐसी भाषा लिखने में समर्थ थे, जो अपनी चमक कभी भी न खो सके। इससे उनकी भाषा बड़ी सजीव हो गई है, लेकिन वे आलोचक पहले हैं, निबन्धकार पीछे। **अध्यापक पूर्णसिंह** द्विवेदी-युग के एक-मात्र निबन्धकार हैं, जो स्वतंत्र शैली लेकर आये और जिनमें स्वाभाविकता और लाक्षणिकता दोनों हैं; उनके 'आचरण की सभ्यता', 'मजदूरी और प्रेम', 'सच्ची वीरता' आदि निबन्ध हिन्दी की अमूल्य सम्पत्ति हैं। उनके निबन्धों की विशेषता यह है कि वे विचारात्मक होने पर भी भावात्मक हैं। भाषा के सहज प्रवाह और भावों की स्वच्छन्द धारा से इनके निबन्ध निखर उठे हैं। उनका व्यंग भी बड़ा गहरा होता है।

वे पाठक के हृदय पर सीधा प्रभाव डालते हैं और उसे उच्चकोटि का मानव होने की प्रेरणा देते हैं।

सन् १९२०-२१ से लेकर १९३५-३६ तक का काल छायावाद-युग कहलाता है। इस युग में द्विवेदी जी की नीति-प्रधान स्थूल विचार-धारा ने रोमांटिक सूक्ष्म भावनाओं के प्रकाशन का नया पथ अपनाया। द्विवेदी-युग में सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार अध्यापक पूर्णसिंह थे। उनके अतिरिक्त अन्य निबन्धकारों ने चलते हुए निबन्ध लिखे हैं। द्विवेदी-युग में सुधारक-वृत्ति की प्रमुखता ने भारतेन्दु-युग की जिन्दादिली को छीन लिया, जिसके परिणामस्वरूप भावात्मक निबन्धों का विकास नहीं हुआ। छायावाद-युग मे प्रसाद की भावात्मक कहानियों के परिणाम-स्वरूप और 'गीतांजलि' के अंग्रेजी अनुवाद के अनुकरण के कारण भावात्मक निबन्धों ने गद्य-काव्य और गद्य-गीत की स्वतन्त्र धारा का रूप ले लिया। इसका विवेचन हम अलग से करेंगे। छायावाद-युग में प्रसाद ने नाटक और काव्य, प्रेमचन्द ने कहानी और उपन्यास तथा रामचन्द्र शुक्ल ने आलोचना और निबन्ध का क्षेत्र चुना और अपने-अपने क्षेत्र में स्वीकृत विधाओं को साहित्य की उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया। इस युग में 'सुधा' (१९३०), 'माधुरी' (१९२३), 'चांद' (१९२३), 'विशाल भारत' (१९२८), 'हंस' (१९३०) आदि पत्रों ने अन्य विधाओं के साथ निबन्ध और गद्य-काव्य के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया।

जहाँ तक निबन्ध का सम्बन्ध है, इस युग के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल हैं। उनकी 'चिन्तामणि' के निबन्ध विश्व की किसी भी भाषा के निबन्धों के समकक्ष गर्व से रखे जा सकते हैं। भावों, विकारों और वृत्तियों पर उन्होंने 'क्रोध', 'करुणा', 'उत्साह', 'लज्जा और ग्लानि' आदि उच्च कोटि के विचारात्मक निबन्ध लिखे हैं। इसके अतिरिक्त 'कविता क्या है', 'साधारणीकरण' आदि शास्त्रीय विषयों पर भी उन्होंने मौलिक दृष्टि से विचार

किया है। शुक्लजी ने यह कार्य बड़ी गम्भीरता से किया। यदि 'व्यक्तित्व की छाप' को निबन्ध का मूल आधार माना जाय तो शुक्ल जी के निबन्ध उस दृष्टि से उच्चकोटि के हैं। उनमें मस्तिष्क और हृदय दोनों का संतुलित उपयोग हुआ है। वे विचारोत्तेजक तो होते ही हैं, मन को रसमग्न भी करते जाते हैं। निबन्ध में एक-एक पैराग्राफ में विचार ठूंस-ठूंसकर भरे रहते हैं और उनकी शृंखला कहीं नहीं टूटती। कभी सूत्र और कभी उनकी सोदाहरण व्याख्या रहती है। भाषा में चलते हुए शब्द भी आते हैं, पर वे उपयुक्त स्थान पर भाव या विचार-प्रकाशन में सहायक होते हैं। भाषा-शैली का ऐसा प्रौढ़ रूप अत्यन्त दुर्लभ है।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के अतिरिक्त इस युग में **बाबू गुलाबराय** और **पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी** इन दो निबन्धकारों ने अच्छे निबन्ध लिखे हैं। **बाबू गुलाबराय** ने द्विवेदी-युग में जो लेखनी उठाई वह छायावाद तथा प्रगतिवाद युग तक अविराम गति से चलती आ रही है। आचार्य शुक्ल-जी की गम्भीरता के समकक्ष बाबू जी सुबोध शैली लेकर उपस्थित हुए। निबन्ध के क्षेत्र में 'फिर निराशा क्यों' और 'मेरी असफलताएँ' दो महत्त्व-पूर्ण पुस्तकें लिखकर उन्होंने अमर स्थान प्राप्त किया है। पहली में विचारात्मक निबन्ध हैं, तो दूसरी में व्यक्तिगत या आत्मपरक निबन्ध (पर्सनल एसे)। डॉक्टर रामविलास शर्मा के कथनानुसार बाबू जी व्यक्तिगत निबन्ध-लेखन में अद्वितीय हैं। उनका निबन्ध-लेखक आलोचक से बड़ा है, क्योंकि निबन्ध में वे मौलिक हैं, आलोचना में प्राप्त सामग्री को संयोजन सम्बन्ध द्वारा प्रस्तुतकर्ता। निबन्धों में उनका व्यक्तित्व सजीव होकर बोलता है। उनकी भाषा आलोचना में गम्भीर है, पर निबन्धों में सरल। शैली प्रसाद-गुण पूर्ण है। **पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी** जी भी बाबूजी की भाँति आलोचक और निबन्धकार हैं। 'हिन्दी-साहित्य-विमर्श' और 'विश्व-साहित्य' उनकी प्रमुख आलोचनात्मक कृतियाँ हैं। उनके निबन्ध 'कुछ' और 'पंचपात्र' में संकलित हैं। उन्होंने भावात्मक और विचारात्मक दोनों

प्रकार के निबन्ध लिखे हैं। उनकी भाषा बाबू श्यामसुन्दरदास की-सी है, पर उसमें विशेषता यह है कि वह अपनापन लिये हुए है। उसमें व्यंग के छींटे तो रहते हैं, पर वे गम्भीरता को कम नहीं करते। 'विज्ञान', 'उत्सव' 'रामलाल पण्डित', 'नाम' आदि उनके अमर निबन्ध हैं।

सन् १९३५-३६ के बाद प्रगतिवाद का युग आरम्भ हुआ। इस युग की विशेषता यह है कि इसमें कवि, नाटककार, कथाकार, इतिहासकार, समीक्षक आदि सभी ने निबन्ध-लेखन का प्रयास किया। इस युग में साहित्य पर साम्यवादी विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा। अतः साहित्य की समस्त विधाओं का मार्क्सवादी दृष्टि से मूल्यांकन करने का प्रयत्न तो किया गया, पर ललित निबन्ध की ओर लोगों का ध्यान कम गया। इस युग में कला, साहित्य और संस्कृति का विस्तृत विवेचन हुआ। परिणामस्वरूप समीक्षात्मक निबन्धों की भरमार रही। ललित निबन्ध की दृष्टि से व्यक्तिगत या आत्मपरक निबन्ध-लेखकों में **सियाराम शरण गुप्त, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, शांतिप्रिय द्विवेदी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, जैनेन्द्रकुमार, प्रभाकर माचवे** तथा **विद्यानिवास मिश्र** आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

छायावाद-युग में बाबू गुलाबराय ने 'मेरी असफलताएँ' में व्यंग-विनोदपूर्ण ढंग से अपने जीवन के कतिपय प्रसंगों को व्यक्तिगत निबन्ध की शैली में प्रस्तुत किया था। लक्ष्मीकान्त झा ने 'मैंने कहा' में अंग्रेजी के व्यक्तिगत निबन्ध का अनुकरण करके उसके रूप को स्पष्ट करने की चेष्टा भी की थी। प्रगतिवाद के युग में **सियारामशरण गुप्त** ने 'झूठ-सच' द्वारा व्यक्तिगत निबन्ध स्वच्छ रूप में प्रस्तुत किया। उनमें उनका व्यक्तित्व खूब निखरा है। अपने व्यक्तित्व की सादगी और सात्विकता को स्वाभाविक भाषा-शैली में ज्यों-का-त्यों उभार देने में गुप्त जी को अपूर्व सफलता मिली है। **भदन्त आनन्द कौसल्यायन** के 'जो मैं भूल न सका', 'जो मुझे लिखना पड़ा', 'रेल का टिकट' आदि संग्रहों में संस्मरणात्मक रचनाओं के बीच-बीच ललित निबन्ध भी मिलते हैं। उनमें भाषा की सफाई, व्यंग

का नुकीलापन और विचारों की प्रगतिशीलता है। **शांतिप्रिय द्विवेदी**-लिखित 'पथचिह्न', 'परिव्राजक की प्रजा' और 'धरातल' में भावात्मक तथा विचारात्मक निबन्धों की श्रेणी में आने वाली रचनाओं के साथ व्यक्तिगत निबन्ध भी हैं। 'पथचिह्न' तो इस दृष्टि से अद्वितीय है। **हजारीप्रसाद द्विवेदी** के 'अशोक के फूल', 'कल्प लता' आदि निबन्ध-संग्रहों में 'वसन्त आ गया', 'आम बौरा गये', 'नाखून क्यों बढ़ते हैं' आदि निबन्धों में व्यक्तिगत निबन्धों का विकसित रूप मिलता है। द्विवेदी जी की दृष्टि प्राचीन कला और संस्कृति के साथ आधुनिक विचार-धाराओं को समेटकर मानवतावाद की प्रतिष्ठा करती है, अतः शुक्लजी के लोक-कल्याण की भावना का अत्यन्त भव्य रूप उनके निबन्धों में नाना प्रकार से व्यक्त हुआ है। **जैनेन्द्रकुमार** के ललित निबन्ध 'पूर्वोदय' और 'जड़ की बात' आदि निबन्ध-संग्रहों में हैं। द्विवेदी जी की भाँति ये भी मानवतावाद की प्रतिष्ठा में विश्वास रखते हैं, पर ये गांधीवाद को लेकर चले हैं, जब कि द्विवेदीजी प्राचीन भारतीय संस्कृति और संत-परम्परा के समन्वय को। सहजता तो जैनेन्द्र जी की भाषा-शैली की अपनी विशेषता है। **प्रभाकर माचवे** के 'खरगोश के सींग' और **विद्यानिवास मिश्र** के 'छितवन की छाँह' व्यक्तिगत निबन्धों का विकसित रूप प्रस्तुत करते हैं। माचवे जी पर मराठी और अंग्रेजी का प्रभाव है, तो मिश्र जी पर आचार्य हजारीप्रसाद जी का। कुछ भी हो ललित निबन्ध-साहित्य में माचवे जी और मिश्र जी की देन महत्त्व की है। इधर सुकवि जयनाथ 'नलिन' ने 'कलाकार का अहं' आदि ऐसे निबन्ध लिखे हैं, जो शुक्ल जी की गहराई और पूर्णसिंह की मस्ती लिये हुए हैं। नलिन जी की भाषा टकसाली और शैली सुबोध तथा व्यंग-विनोद-पूर्ण है।

यह युग समीक्षा का है अतः कुछ समीक्षकों और विचारकों ने भी कला, संस्कृति और साहित्य से सम्बन्धित भावात्मक और विचारात्मक निबन्ध लिखे हैं। इस दृष्टि से वासुदेवशरण अग्रवाल, हजारीप्रसाद द्विवेदी,

डॉक्टर नगेन्द्र आदि के निबन्ध उच्चकोटि के हैं। इतना होने पर भी जिसे ललित निबन्ध कहा जाता है, वह हिन्दी में इतना समृद्ध नहीं जितनी कि अन्य विधाएँ। सच तो यह है कि यही अंग अब तक सर्वाधिक उपेक्षित रहा है।

८
गद्य-काव्य

गद्य-काव्य भावात्मक निबन्धों का विकसित रूप माना जाता है। कदाचित् इसीलिए इसे कितने ही विद्वान् विधा नहीं मानते। कुछ तो इसे निरा प्रलाप ही कहते हैं। उनकी दृष्टि से काव्य और गीति का अपना विधान होता है, जो गद्य-काव्य और गद्य-गीत में आ ही नहीं सकता। ऐसी स्थिति में वे गद्य-काव्य और गद्य-गीत का अस्तित्व ही नहीं मानते। लेकिन जैसे एक उद्गम से निःसृत दो धाराएँ देश-काल की सीमाओं को पार करती हुई अपने भिन्न नाम-रूपों के साथ प्रकट होती हैं वैसे ही साहित्य में विधाओं की स्थिति है। यह ठीक है कि भावात्मक निबन्ध का ही विकसित रूप गद्य-काव्य और गद्य-गीत में दिखाई देता है, पर वह एक स्वतन्त्र और समृद्ध विधा है। इसे अस्वीकार करना संकीर्णता का परिचय देना है।

छन्द-बन्धन-रहित और इतिवृत्त-हीन ऐसी भावपूर्ण कल्पना-प्रधान रचना को गद्य-काव्य कहा जाता है, जिसमें बुद्धि-तत्त्व को विशेष महत्त्व न दिया गया हो। इसके गद्य-काव्य और गद्य-गीत दो भेद हैं। गद्य-काव्य में महाराजकुमार रघुवीरसिंह और माखनलाल चतुर्वेदी की लम्बी रचनाएँ आती हैं और गद्य-गीत में राय कृष्णदास और दिनेशनन्दिनी की छोटी-छोटी रचनाएँ। गद्य-काव्य का प्रारम्भ भारतेन्दु के नाटकों में दिये गए उनके भावोच्छ्वासपूर्ण समर्पणों से हुआ, और गद्य-गीत का प्रचलन रवीन्द्र की 'गीतांजलि' के अंग्रेजी-रूपान्तर के हिन्दी में आने पर।

श्री रामदहिन मिश्र ने गद्य-काव्य और गद्य-गीत का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है—"**गद्य काव्य में कल्पना की प्रधानता होती है। उसमें अनेक भावों और रसों की अवतारणा की जा सकती है, पर गद्य-गीत में एक ही भाव की थोड़े-से संगीतात्मक शब्दों में अभिव्ययक्ति होती है और तद्विषयक साधन से ही वह सम्पन्न रहता है। गद्य-गीत में आवश्यक साधन हैं—भावावेश, अनुभूति की विभूति और अभिव्यंजन-कुशलता। गद्य की गेयता अनिवार्य नहीं। सम्भव है सुन्दर शब्दावलियों और अपूर्ण वाक्य-विन्यास से कोई भिन्न लय उत्पन्न की जा सके। गीत-कविता के समान अधिकतर गद्य-गीत अन्तर्वृत्ति-निरूपक ही होते हैं, जिनमें आत्माभिव्यंजन की मात्रा अधिक रहती है।**" ('काव्य-दर्पण', पृष्ठ ३५९)।

कुछ लोगों की यह धारणा है कि गद्य-काव्य बँगला की देन है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने चन्द्रशेखर मुखोपाध्याय के 'उद्भ्रान्त प्रेम' का इस प्रसंग में उल्लेख किया है। लेकिन व्रजनन्दन सहाय, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, भँवरमल सिंघी, दिनेशनन्दिनी आदि सभी गद्य-काव्य-लेखकों ने इसका खण्डन किया है। हाँ, रवीन्द्र की 'गीतांजलि' का प्रभाव बाद में चलकर राय कृष्णदास पर अवश्य पड़ा। इसे छोड़कर हिन्दी-गद्य-काव्य का स्वतन्त्र विकास हुआ है। उसकी तीन धाराएँ मिलती हैं : १. व्रजनन्दन सहाय के 'सौंदर्योपासक' वाली प्रेमोन्माद की धारा; २. रायकृष्णदास की 'गीतांजलि' द्वारा आत्म-निवेदन की धारा और ३. दिनेशनन्दिनी की इन दोनों शैलियों के स्वाभाविक मिश्रण की धारा। पहली धारा के लेखकों में व्रजनन्दनसहाय के अतिरिक्त लक्ष्मीनारायणसिंह 'सुधांशु' ('वियोग' के लेखक), दुर्गाप्रसाद सिंह ('ज्वालामुखी' के लेखक), राजा राधिकारमणप्रसादसिंह, ('नवजीवन' के लेखक), मोहनलाल महतो ('धुंधले चित्र' के लेखक) सद्गुरुशरण अवस्थी प्रमुख हैं। दूसरी धारा में राय कृष्णदास के अतिरिक्त वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, भँवरमल सिंघी, शांतिप्रसाद वर्मा, तेजनारायण 'काक' आदि के नाम आते हैं; जिनमें वियोगी हरि और चतुरसेन शास्त्री का प्रेरणा-

स्रोत भारतेन्दु, जगमोहनसिंह, गोविन्दनारायण मिश्र आदि की कवित्व-पूर्ण गद्य-रचनाएँ रही हैं। तीसरे वर्ग में दिनेशनन्दिनी का एकच्छत्र साम्राज्य है। माखनलाल चतुर्वेदी और महाराजकुमार रघुवीरसिंह में सभी प्रकार की शैलियों के समन्वय वाली धारा मिलती है। यदि गहराई से देखा जाय तो उत्कृष्ट कविता की सभी विशेषताएँ इन गद्य-काव्यों में मिल जाती हैं। गद्य-काव्य के प्रमुख लेखकों में **राय कृष्णदास, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, दिनेशनन्दिनी, माखनलाल चतुर्वेदी और महाराजकुमार रघुवीरसिंह** के नाम उल्लेखनीय हैं।

रायकृष्णदास ने रवीन्द्र की 'गीतांजलि' के अनुकरण पर रहस्योन्मुख आध्यात्मिक गद्य-काव्यों का प्रारम्भ किया। 'साधना', 'छायापथ', 'प्रवाल' आदि आपकी प्रमुख कृतियाँ हैं। उनकी 'साधना' तो 'गीतांजलि' से प्रेरणा लेकर लिखी गई है, पर 'छाया पथ' से उन्होंने अपना अलग मार्ग निकाला है। वे हर बात को आध्यात्मिक रूप देने में पटु हैं। जड़-चेतन पदार्थों की सहायता से जीवन-व्यापी सत्यों की व्यंजना उनकी प्रमुख विशेषता है। उनकी शैली में चित्रोपमता का विशेष गुण है। उनकी भाषा-शैली अत्यन्त परिमार्जित और संयत है। **वियोगी हरि** भारतेन्दु-शैली के गद्य-काव्यों के प्रतिनिधि लेखक हैं। वैष्णव भक्त का स्वभाव और गांधी का व्यावहारिक जीवन लेकर वियोगी हरि ने 'तरंगिणी', 'अन्तर्नाद', 'भावना', 'प्रार्थना', 'श्रद्धा-कण' आदि में भक्ति और देश-प्रेम के गद्य-काव्य लिखे हैं। भक्तिपरक गद्य-काव्यों में आत्म-निवेदन, और देश-प्रेम-परक गद्य-काव्यों में आक्रोश, खीभ, व्यंग आदि अनेक तत्त्व मिलते हैं। भाषा-शैली के विविध रूप मिलते हैं—कहीं वह पाण्डित्यपूर्ण है, कहीं सरल और चलती हुई साहित्यिक; और कहीं बिलकुल बोल-चाल की। **चतुरसेन शास्त्री** ने 'अन्तस्तल', 'मरी खाल की हाय', 'जवाहर' और 'तरलाग्नि' में रायकृष्णदास की रहस्योन्मुखता, वियोगी हरि की भक्ति-भावना और दिनेशनन्दिनी की प्रेम-पीड़ा से भिन्न सामाजिक अधोगति के प्रति तीव्र असन्तोष व्यक्त हुआ है। वे मानसिक भावों के चतुर

चितेरे हैं। साथ ही पत्नी, माता और मातृभूमि को भी गद्य-काव्यों का विषय बनाया है। उन्होंने अपनी रचनाओं में बातचीत की लय और संगीत पूरी तरह से उतार दिया है। **दिनेशनन्दिनी डालमिया** ने सबसे अधिक गद्य-काव्य लिखे हैं। 'शबनम', 'मौक्तिक माल', 'शारदीया', 'दुपहरिया के फूल', 'वंशी रव', 'उन्मन', 'स्पन्दन' आदि उनके गद्य-काव्य-संग्रह हैं। उनके गद्य-काव्य में व्यक्तिगत सुख-दुःख की बड़ी मार्मिक व्यंजना है। प्रेम-पीड़ा का ऐसा प्रकाशन उनके गीतों में है कि पाठक रस-मग्न हो जाता है। 'उन्मन' में दार्शनिक विचारों के गद्य-काव्य भी हैं, पर दिनेशनन्दिनी का निखरा हुआ रूप उनके लौकिक प्रेम के गद्य-गीतों में ही मिलता है। भाषा के विविध रूप, कथन के नाना प्रकार और वृत्तियों के अनेक चित्र उनकी रचनाओं में बिखरे पड़े हैं। **माखनलाल चतुर्वेदी** का 'साहित्य देवता' हिन्दी-गद्य-काव्य ही नहीं, समूचे हिन्दी-गद्य-साहित्य का शृंगार है। आचार्य विनयमोहन शर्मा के अनुसार उसमें गद्य-काव्य, गद्य-गीत और काव्यमय गद्य तीनों प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं। इन रचनाओं में मूल स्वर राष्ट्रीयता का है। राष्ट्र ही 'साहित्य देवता' की आधार-भूमि है। देश की अधोगति के चित्र के साथ बलिदान के लिए तरुणाई का आह्वान उनकी रचनाओं का प्राण है। वैष्णवता का गांधी-विनोबा-सम्मत रूप ही उन्हें ग्राह्य है! भाषा-शैली उनकी अद्वितीय है और उसमें उनका भावावेश मूर्त्त हो उठा है। वक्रोक्ति, विरोधाभास, सूक्ति आदि उनकी शैली की विशेषताएँ हैं। **महाराजकुमार रघुबीरसिंह** अपनी 'शेष स्मृतियाँ' और 'जीवन धूलि' लिखकर हिन्दी के उच्चकोटि के गद्य-काव्यकार माने गए हैं। लम्बी होने पर भी उनकी रचनाओं में गीत की तरह एक ही भाव झंकृत होता रहता है। अतीत के खण्डहरों में उन्होंने प्राण-संचार कर दिया है। करुणा और विषाद का अद्भुत संगम उनके गद्य-काव्यों में मिलता है। रूपक, मानवीकरण और उत्प्रेक्षा द्वारा उन्होंने अपनी भाषा को सजाया है, पर वह कहीं कृत्रिम नहीं हुई।

गद्य-काव्य के अन्य लेखकों में भँवरमल सिंघी ('वेदना'), ब्रह्मदेव

('निशीथ' और 'आँसू भरी धरती'), रावी ('पूजा' और 'शुभ्रा'), 'अज्ञेय' ('चिन्ता' और 'भग्नदूत'), शांतिप्रसाद वर्मा ('चित्रपट'), रामकुमार वर्मा ('हिम हास'), तेजनारायण 'काक' ('मदिरा'), राजनारायण मेहरोत्रा 'रजनीश' ('आराधना'), जगदीश ('द्वाभा'), बालकृष्ण बलदुआ ('मन के गीत') आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त भी पचासों लेखकों ने इस विधा को पुष्ट किया है।

९
आलोचना

आलोचना का पूर्व रूप—हिन्दी में आलोचना का सूत्रपात भारतेन्दु-युग में पत्र-पत्रिकाओं द्वारा हुआ था और उसका विकास आगे चलकर द्विवेदी-युग और छायावाद-युग में हुआ। लेकिन भारतेन्दु-युग से पूर्व भी किसी-न-किसी रूप में आलोचना मिलती ही है। बात यह है कि साहित्य और आलोचना समानान्तर चलने वाली दो धाराएँ हैं। प्रत्येक युग का रचनात्मक साहित्य अपने युग के अनुकूल आलोचना का, और आलोचना अपने युग के अनुकूल साहित्य का प्रणयन करती रहती है। हिन्दी-आलोचना का विकास भी इसी सिद्धान्त के आधार पर हुआ है। आदिकाल और भक्तिकाल में रचनात्मक साहित्य की सृष्टि हुई। आदिकाल राजाओं का गुण-गान का समय था और भक्तिकाल भगवान् के। इन कालों में, विशेषकर भक्तिकाल में कबीर और तुलसी ने क्रमशः 'मसि कागद' न छूने और 'कवित्त विवेक' न होने की घोषणा की है। इस विनम्रता के बावजूद तुलसीदास ने अपने काव्यादर्श की प्रतिष्ठा की है। **'कीन्हे प्राकृत जन गुनगाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना'** अथवा **'कीरति भनिति भूति भल सोई, सुरसरि सम सब कँह हित होई'** में एक ओर 'प्रकृत जन' (राजे-महाराजों) का गुण-गान, जो आदिकाल में होता था, तुलसी के आक्रोश का लक्ष्य बना है तो दूसरे में भक्तिकाल के काव्य का आदर्श प्रस्तुत किया गया है। पूर्व युग की त्रुटियों की ओर संकेत और अपने युग की परिस्थिति

के अनुकूल काव्यादर्श की स्थापना करना ही तो आलोचक का कार्य है, जिसके आधार पर स्वयं आलोचना और साहित्य आगे बढ़ते हैं। कवियों के अतिरिक्त उनके समकालीन भक्तों तथा श्रद्धालुओं ने भी आलोचना की ओर अपनी रुचि दिखाई है। 'नाभादास का भक्ति माल' और गोकुलनाथ की 'वार्ताएँ' भक्तों की जीवनियाँ ही नहीं हैं, उनके कवि-कर्म पर टिप्पणियाँ भी उनमें मिलती हैं। वैष्णव-भक्ति के आचार्यों का भक्ति-निरूपण भी काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रकाश में हुआ है। **'सूर सूर, तुलसी ससी, उडुगन केसवदास, अबके कवि खद्योत सम जँह तँह करत प्रकास', तुलसी गंग दुवौ भये सुकविन के सरदार, इनके काव्यन में मिलै भाषा विविध प्रकार', 'और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया'** आदि सूक्तियाँ भी भक्तिकालीन आलोचना का एक रूप प्रस्तुत करती हैं। इस प्रकार भक्तिकाल में आलोचना काव्य-रचना के समानान्तर चली है।

रीतिकाल में आलोचना के दो रूप मिलते हैं—१-सैद्धान्तिक समीक्षा और २-व्यावहारिक समीक्षा। 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया', 'कविकुल-कल्पतरु', 'काव्य सरोज', 'काव्य निर्णय' आदि ग्रन्थ सैद्धान्तिक समीक्षा के हैं। दूसरे प्रकार की आलोचना 'रामचरित मानस' और 'बिहारी सतसई' की टीकाओं, कुलपति, श्रीपति, चिन्तामणि और सोमनाथ द्वारा लिखी गई वचनिका वार्ता, तिलक आदि के रूप में मिलती है। यह रीतिकालीन सैद्धान्तिक आलोचना संस्कृत-काव्य-शास्त्र का आधार लेकर चली है, जिसमें अलंकार और रस-सम्प्रदाय का प्रभाव है। केशव अलंकारवादी सम्प्रदाय के मानने वाले हैं, और देव, मतिराम, सेनापति, श्रीपति, दास आदि रस-सम्प्रदाय के। रीतिकालीन, व्यावहारिक आलोचना में प्रमुख जो टीका-पद्धति है उसमें रीति-काल के अंतिम चरण में सरदार कवि-कृत 'मानस रहस्य' को श्रेष्ठ माना जाता है। इसमें काव्यांगों के लक्षण, उन लक्षणों के अनुसार मानस से उदाहरण, और अन्त में उन स्थलों की गद्य में व्याख्या देकर सैद्धान्तिक और

व्यावहारिक आलोचना का समन्वित रूप प्रस्तुत किया गया है।

आधुनिक आलोचना—भक्तिकालीन और रीतिकालीन आलोचनाएँ अपने युग की काव्य-रचनाओं के अनुशीलनार्थ हुई थीं। भारतेन्दु के आगमन से हिन्दी में जो नवयुग का सूत्रपात हुआ उसमें पाश्चात्य शिक्षा तथा संस्कृति के सम्पर्क से नवीन विचारों का उदय और उनके प्रकाशन के माध्यम के रूप में गद्य का आविर्भाव हुआ। गद्य में नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि की रचना होने लगी तो उनके मूल्यांकन के लिए आलोचना का भी प्रारम्भ हुआ। भारतेन्दुयुगीन आलोचना साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं से प्रकाश में आई। आलोचना का सूत्रपात करने वाले प्रमुख पत्रों में 'कविवचन सुधा' (१८६८), 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' (१८७३), 'हिन्दी प्रदीप' (१८८१), 'आनन्द कादम्बिनी' (१८६१), 'कवि व चित्रकार' (१८६१), 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (१८६७) उल्लेखनीय हैं। 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के मुखपृष्ठ पर जहाँ 'अन्य' कितने ही विषयों का उल्लेख है, वहाँ **'और समालोचना संभूषिता'** भी लिखा हुआ है; जिससे यह प्रकट है कि भारतेन्दु ने ही समालोचना का प्रारम्भ किया। 'कवि वचन सुधा' (१८७२) में 'हिन्दी कविता' नाम से पहला आलोचनात्मक लेख भी उन्होंने ही लिखा था। भारतेन्दु के इन पत्रों और 'आनन्द कादम्बिनी' तथा 'प्रदीप' आदि उनके सहयोगियों के पत्रों में जो आलोचनाएँ छपती थीं वे 'पुस्तक परिचय'-मात्र थीं। होता यह था कि पुस्तक प्राप्त होने की सूचना छापने के साथ कुछ टिप्पणियाँ भी छाप दी जाती थीं।

भारतेन्दु के पश्चात् परिचयात्मक आलोचना का अपेक्षाकृत गम्भीर रूप बालकृष्ण भट्ट तथा बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की आलोचना में मिलता है। इन दोनों ने सन् १८८५ में लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना क्रमशः 'हिन्दी प्रदीप' और 'आनन्द-कादम्बिनी' में की थी। 'आनन्द कादम्बिनी' की आलोचना में आलोच्य-कृति की त्रुटियों की ओर संकेत करने के साथ-साथ स्वाभाविकता और

गम्भीरता की रक्षा का प्रयत्न परिलक्षित होता है। अन्य पत्रकार भी भट्टजी और 'प्रेमघन' जी के अनुकरण पर ऐसी ही आलोचनाएँ लिखा करते थे। इस व्यावहारिक आलोचना के परिचयात्मक रूप के अतिरिक्त सैद्धान्तिक आलोचना का सूत्रपात भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' निबन्ध से किया, जिसका उद्देश्य युगानुकूल नाटक-रचना के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके तत्कालीन नाटककारों को श्रेष्ठ नाटक लिखने के लिए प्रेरित करना था। भारतेन्दु-युग पर रीति-काल का प्रभाव होने से इस काल की आलोचना में पाण्डित्य-प्रदर्शन की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। इतना होने पर भी आलोचना का निश्चित आदर्श भारतेन्दु-युग के लेखकों के सामने नहीं था। सन् १८९७ में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के प्रकाशन से भारतेन्दुयुगीन परिचयात्मक आलोचना ने अनुसन्धान और अनुशीलन का गम्भीर रूप ग्रहण किया।

'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में पहले ही वर्ष में पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने 'समालोचना', बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने 'समालोचनादर्श' और अम्बिकादत्त व्यास ने 'गद्य-काव्य मीमांसा'-जैसे सैद्धान्तिक आलोचना के गम्भीर निबन्ध लिखे। इनमें से रत्नाकर जी का निबन्ध पोप-कृत 'एसे ऑन क्रिटिसिज़्म' का पद्यबद्ध अनुवाद है। इनमें सर्वाधिक महत्त्व का निबन्ध पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री द्वारा लिखित 'समालोचना' है। इन लेखकों के अतिरिक्त 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' द्वारा महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दरदास, मिश्रबन्धु आदि के आलोचनात्मक निबन्ध भी प्रकाश में आये। यों 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का हिन्दी-आलोचना के निर्माण में विशेष हाथ है। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के अतिरिक्त 'सुदर्शन' (१९००), 'सरस्वती' (१९००) और 'समालोचक' (१९०२) ने आधुनिक आलोचना को सँवारने का कार्य किया। इनमें 'सरस्वती' की सेवाएँ सर्वाधिक महत्त्व की हैं।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती'-सम्पादक के रूप में आलोचना को नई दिशा दी। सन् १९०४ में उन्होंने 'सरस्वती' में 'पुस्तक

परिचय' स्तम्भ द्वारा पत्रों में पुस्तक रूप में आलोचना की प्रणाली आरम्भ की। उन्होंने 'सरस्वती' में कुछ व्यंग-चित्र भी प्रकाशित किये, जो हिन्दी-साहित्य की तत्कालीन दशा का बोध कराते हैं। ये व्यंग-चित्र भी एक प्रकार की आलोचना ही थे। द्विवेदीजी कालिदास और भवभूति आदि कवियों के भक्त थे। हिन्दी के प्राचीन कवियों में सूर और तुलसी की भावुकता तथा नवीन कवियों में भारतेन्दु और मैथिलीशरण गुप्त की देश-भक्ति से वे प्रभावित थे। उन्होंने अपनी आलोचना में भारतीय रस-सिद्धान्त को पूरा-पूरा महत्त्व दिया, पर नवीनता की भी उपेक्षा नहीं की। उनकी आलोचना गुण-दोष-विवेचन तक ही सीमित थी। उन्होंने 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' में लाला सीताराम द्वारा अनूदित कालिदास के नाटकों की आलोचना की और अनुवाद की भाषा तथा भाव-सम्बन्धी त्रुटियों पर प्रकाश डाला। 'विक्रमांक देव चरित-चर्चा' और 'नैषध चरित चर्चा' में उनके नाम के अनुरूप संस्कृत के इन ग्रन्थों की चर्चा-भर है। उनकी दोष-दर्शन-पद्धति का परिचय 'कालिदास की निरंकुशता' में उदाहरणों द्वारा प्रतिपादित कालिदास की भूलों के प्रदर्शन से मिलता है। इन आलोचनाओं से हिन्दी-पाठकों में कृतियों के गुण-दोष समझने की बुद्धि जाग्रत हुई। 'हिन्दी नवरत्न' की उनके द्वारा की गई आलोचना उनकी गम्भीर आलोचना-शैली का परिचय देती है। इसके अतिरिक्त 'कवि और कविता'-जैसे विषयों पर लेख-लिखकर इन्होंने सैद्धान्तिक आलोचनात्मक कार्य भी आगे बढ़ाया। सारांश यह कि निश्चित आदर्श के अभाव में भी द्विवेदीजी ने आलोचना की विविध प्रणालियों का सूत्रपात किया।

द्विवेदी युग में **मिश्रबन्धु-कृत** 'मिश्रबन्धु विनोद' और 'हिन्दी नवरत्न' द्वारा पहली बार ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक आलोचना का रूप प्रस्तुत हुआ। मिश्रबन्धु परम्परावादी और शास्त्रानुयायी समीक्षक कहे जा सकते हैं। उस समय 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित होने वाले अनुसन्धानात्मक और 'सरस्वती' में प्रकाशित होने वाले गुण-दोष-विवेचनात्मक

लेखों के समन्वय की प्रणाली पर अपना पथ बनाया। 'हिन्दी नवरत्न' में पहले कवियों का श्रेणी-विभाजन हुआ और 'मिश्रबन्धु विनोद' में विस्तार से कवियों और उनकी काव्य-कृतियों का काल-विभाजन करके विश्लेषण किया गया है। अंग्रेजी साहित्य के ज्ञाता होने पर भी मिश्रबन्धुओं ने रीतिकालीन सैद्धान्तिक आधार पर गुण-दोष-विवेचन-पद्धति को ही अपनाया है। इतना होने पर भी कवि के व्यक्तित्व और उसकी परिस्थिति के प्रकाश में उसकी रचनाओं का मूल्यांकन करने से आलोचना के क्षेत्र में इतिहास-लेखन की उस प्रणाली का सूत्रपात हुआ, जिसका चरम विकास आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास में पीछे चलकर देखने को मिला।

यों तो मिश्रबन्धु-कृत 'हिन्दी नवरत्न' में कवियों के श्रेणी-विभाजन में ही तुलनात्मक आलोचना का क्षीण आभास मिल जाता है, पर उसको व्यवस्थित रूप **पं० पद्मसिंह शर्मा** ने दिया। तुलनात्मक आलोचना का आरंभ सन् १९०७ की 'सरस्वती' में प्रकाशित शर्मा जी की 'बिहारी' और फारसी कवि 'शेखसादी' की तुलनात्मक आलोचना से माना जाता है। जब मिश्रबन्धुओं का हिन्दी नवरत्न' निकला और उसमें देव को बिहारी से कुछ बड़ा सिद्ध किया गया तो शर्माजी ने 'आर्या सप्तशती', 'गाथा सप्तशती', 'अमरुक शतक' आदि संस्कृत-प्राकृत के ग्रंथों तथा हिन्दी और उर्दू-फारसी के अन्य कवियों से 'बिहारी सतसई' की तुलना करके बिहारी को शृंगार रस का सर्वश्रेष्ठ कवि सिद्ध किया। शर्मा जी के इस विद्वत्ता-पूर्ण कार्य से आलोचना के क्षेत्र में रीतिकालीन कविता के मूल्यांकन का नया द्वार खुला। विभिन्न कवियों की रचनाओं में प्रयुक्त भाव और भाषा की सूक्ष्मता से छान-बीन करने की प्रवृत्ति को बल मिला। अंग्रेजी साहित्य में ड्राइडन ने इस तुलनात्मक आलोचना द्वारा आलोचना को विकास के पथ पर अग्रसर किया था, परन्तु हिन्दी में शर्मा जी द्वारा आविष्कृत इस महत्त्वपूर्ण प्रणाली को व्यापकता न देकर संकीर्ण कर दिया गया। परिणामस्वरूप **कृष्णबिहारी मिश्र** ने 'देव और बिहारी' पुस्तक द्वारा

फिर देव को बढ़ाकर बताया और **लाला भगवानदीन** ने 'बिहारी और देव' पुस्तक लिखकर इसका प्रतिवाद किया। यों एक समय सारा हिन्दी-जगत् देव-बिहारी-द्वन्द्व का अखाड़ा हो गया। इससे चाहे और कुछ लाभ न हुआ हो, परन्तु हिन्दी के पाठकों को रचना-कौशल और उक्ति-चमत्कार का बोध तो हुआ ही।

जिस समय 'देव और बिहारी' या 'बिहारी-देव' का विवाद चल रहा था उसी समय अर्थात् सन् १६२०-२१ के लगभग **आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल** आलोचना के क्षेत्र में अपने नये आदर्श के साथ अवतरित हुए। शुक्लजी ने पहली बार कवि विशेष के प्रादुर्भाव-काल की सामाजिक परिस्थितियों, उसके पूर्व युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों और स्वयं उसकी निजी आन्तरिक मनोवृत्तियों के प्रकाश में उसकी काव्य-कृतियों की आलोचना की प्रणाली प्रारम्भ की। यह पाश्चात्य आलोचना-प्रणाली व्याख्यात्मक आलोचना-प्रणाली कही जाती है। भारतीय आलोचना-प्रणाली में शास्त्रीय कसौटी पर कवि विशेष की कृतियों को कसकर उसके गुण-दोषों का उद्घाटन करने और अपना निर्णय देने की प्रथा थी। शुक्लजी ने इन दोनों प्रणालियों के सुन्दर समन्वय द्वारा जायसी, सूर तथा तुलसी के काव्य का अनुशीलन इसी समन्वित प्रणाली पर किया। शुक्लजी हृदय से कवि थे और मस्तिष्क से आलोचक। इसलिए उनकी आलोचना में सूक्ष्म विश्लेषण और भावावेश दोनों का ही सुखद संगम है। वे तुसली और उनके काव्यादर्शों से प्रभावित थे। तुलसी के आध्यात्मिक और सम्प्रदायवादी रूप की ओर अधिक ध्यान न देकर उन्होंने उनके मर्यादावाद को महत्त्व दिया। इसी मर्यादावाद की दृष्टि से उन्होंने भारतीय काव्य-शास्त्र के आधार पर उनकी रचनाओं की समीक्षा की और व्यावहारिक आलोचना का नया रूप प्रस्तुत किया। वाल्मीकि और कालिदास से भी उन्होंने प्रेरणा ली, पर वह केवल संश्लिष्ट प्रकृति-वर्णन के स्पष्टीकरण के लिए ही। प्रकृति-वर्णन की दृष्टि से उन्होंने तुलसी को महत्त्व नहीं दिया। सन्

१९३० में प्रकाशित उनका 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' उनकी आलोचना का विकसित रूप प्रस्तुत करता है। उनके इतिहास में ऐतिहासिक आलोचना की ऐसी वैज्ञानिक प्रणाली है, जो उसे आज भी साहित्य के इतिहासों में अन्यतम बनाये हुए है। लोकवाद, संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण, प्रगीत मुक्तकों की अपेक्षा प्रबन्ध-काव्यों की श्रेष्ठता, साधारणीकरण का सिद्धांत आदि जिन मान्यताओं को उन्होंने अपनी व्यावहारिक आलोचना का आधार बनाया है, उनका निर्माण उन्होंने स्वयं किया था। तुलसी के नैतिक आदर्श के प्रति अत्यधिक आग्रह के कारण एक ओर तो वे कबीर आदि निर्गुण कवियों की काव्य-दृष्टि को हृदयंगम न कर सके और दूसरी ओर उपन्यास, कहानी, नाटक आदि गद्य के नये रूपों तथा छायावादी काव्य के प्रति भी उदार न रह सके। फिर भी उन्होंने व्याख्यात्मक आलोचना-प्रणाली को प्रचलित किया, उसी पर हिन्दी-आलोलना का भव्य प्रासाद खड़ा है।

शुक्लजी के समकालीन दो अन्य आलोचकों ने सैद्धान्तिक समीक्षा द्वारा हिन्दी-आलोचना को सम्पन्न किया। वे हैं—**बाबू श्यामसुन्दर दास और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी**। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (१८९७) में गंगाप्रसाद अग्निहोत्री के 'समालोचना' शीर्षक निबन्ध से हिन्दी में सैद्धान्तिक आलोचना का प्रारम्भ हुआ था। **बाबू श्यामसुन्दरदास** के 'साहित्यालोचन' में उसको प्रौढ़ता मिली। अंग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचकों हडसन तथा वर्सफील्ड के ग्रंथों के आधार पर लिखा गया यह ग्रंथ अंग्रेजी आलोचना-शास्त्र का साहित्यिक हिन्दीकरण है। फिर भी काव्य-शास्त्र के अनुशीलन के लिए आज भी उसकी महत्ता है। 'रूपक रहस्य', 'भारतीय नाट्य-शास्त्र' एवं 'भाषा रहस्य' में भाषा-विज्ञान, तथा 'हिन्दी भाषा और साहित्य' में हिन्दी-भाषा और साहित्य का विवेचन उन्होंने स्पष्ट, शुद्ध शौर परिमार्जित शैली में किया है। बाबू साहब अपनी आलोचना में शुक्लजी की भाँति मौलिक भले ही न हों, सैद्धान्तिक आलोचना का विधिवत् आरंभ उन्होंने ही किया था। उच्च कक्षाओं में

हिन्दी के पठन-पाठन के स्तर की रक्षा इन्हीं ग्रंथों से हुई है। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने 'विश्व-साहित्य' नामक ग्रंथ में यूरोपीय साहित्य के सौन्दर्य का उद्‌घाटन करते समय पाश्चात्य सिद्धांतों का प्रतिपालन करके श्यामसुन्दरदास के कार्य को पूर्णता देने का स्तुत्य प्रयत्न किया। इन दोनों के सम्मिलित रूप में सैद्धान्तिक आलोचना की एक रूपरेखा निश्चित हुई। सारांश यह कि द्विवेदी-युग में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा व्यावहारिक समीक्षा और बाबू श्यामसुन्दरदास द्वारा सैद्धान्तिक समीक्षा का एक निश्चित आदर्श सामने रखा गया; जिसमें भारतीय और पाश्चात्य आलोचना-प्रणालियों का समन्वय करने की चेष्टा की गई है।

शुक्लोत्तर आलोचना–द्विवेदी-युग की आलोचना का पूर्ण परिपाक आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना-पद्धति में दिखाई देता है, यह हम बता चुके हैं। यह भी इंगित किया जा चुका है कि उनकी आलोचना-पद्धति भारतीय और पाश्चात्य आलोचना के समन्वय के बावजूद भारतीय साहित्य-शास्त्र को लेकर चली है, जिसका स्वरूप तुलसीदास की नैतिकता और मर्यादावादी विचार-धारा से निर्मित हुआ है। भारतीय रस-शास्त्र पर आधारित और आई० ए० रिचर्ड-जैसे पश्चिमी नीतिवादी आलोचकों के सिद्धान्तों से पुष्ट शुक्लजी की आलोचना, कबीर आदि निर्गुणवादी एवं पंत आदि छायावादी कवियों के सौंदर्य-बोध और गद्य की उपन्यास-कहानी-जैसी विधाओं और उनके लेखकों के प्रति ठीक न्याय नहीं कर सकी; इसका भी उल्लेख हो चुका है। शुक्लोत्तर आलोचना में यों तो सामान्यतः शुक्लजी द्वारा निर्धारित आलोचना के आदर्श का ही पालन हुआ है, पर कुछ प्रतिभाशाली आलोचकों ने शुक्लजी की आलोचना-पद्धति की त्रुटियों को दूर करके नवीन साहित्यिक और सामाजिक चेतना के अनुरूप उसे पूर्णता देने का भी प्रयत्न किया है। ऐसे आलोचकों में नन्ददुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र और हजारीप्रसाद द्विवेदी अग्रगण्य हैं।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी-कृत 'महाकवि सूरदास', 'जयशंकरप्रसाद',

'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी', 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', 'नया साहित्य : नये प्रश्न' आदि कई महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक कृतियां प्रकाश में आ चुकी हैं, जिनसे उनकी आलोचना-सम्बन्धी मान्यताओं और उपलब्धियों का पूर्ण परिचय मिल जाता है। उन्होंने तब आलोचना लिखना प्रारंभ किया जब कि छायावाद के प्रति लोगों का दृष्टिकोण नकारात्मक था और पन्त-निराला आदि को अपनी काव्य-सृष्टि की महत्ता समझाने के लिए लम्बी-लम्बी भूमिकाएँ या निबन्ध लिखने पड़े थे। उन्होंने बिना परम्परा की दासता स्वीकार किये हुए सौंदर्यवादी दृष्टि से कलाकार की मौलिकता पर मुग्ध होकर कला-कृतियों की आलोचना की और युगानुकूल ललित तथा भावपूर्ण आलोचना-प्रणाली को जन्म दिया। वे कवि या काव्य-प्रवृत्ति के अध्ययन में समाज-शास्त्र, दर्शन, साहित्य-शास्त्र, कवि के अन्तर्मन, उसकी परिस्थिति आदि सबका समन्वय करके तुलना और विवेचन द्वारा सूक्ष्मता के साथ मूल्यांकन करते हैं। उनके निष्कर्षों के पीछे उनकी गहरी दृष्टि और चिन्तन स्पष्ट झलकते हैं।

डॉक्टर नगेन्द्र भी वाजपेयी जी की भाँति छायावाद के प्रति सहानुभूतिशील दृष्टिकोण और सौंदर्य-शास्त्र के सिद्धान्त लेकर आलोचना-क्षेत्र में प्रविष्ट हुए। उनकी प्रथम कृति छायावाद के कुशल शब्द-शिल्पी सुमित्रानन्दन पन्त की आलोचना थी। उन्होंने राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण गुप्त की प्रतिनिधि रचना 'साकेत' की भी सरस आलोचना की। उसके बाद रीति-काव्य के गम्भीर अध्ययन के फलस्वरूप वे भारतीय काव्य-शास्त्र के मन्थन में लग गए और उनका पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया। बीच में वे फ्रायड के सिद्धान्तों की ओर भी झुके, लेकिन पीछे चलकर वे आचार्य शुक्ल की परम्परा को पुष्ट करने में लग गए। आज हिन्दी में वे शुक्लजी द्वारा प्रस्थापित समन्वयशील आलोचना-प्रणाली के सर्वश्रेष्ठ आलोचक हैं। वे अपने 'विचार और विश्लेषण', 'काव्य-चिन्तन' आदि निबन्ध-संग्रहों और 'भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा'-जैसे तथा अन्य संस्कृत

ग्रंथों के सम्पादक और यूरोपीय भाषाओं के काव्य-शास्त्राचार्यों के अनूदित ग्रंथों के भूमिका-लेखक के नाते अपनी आलोचना-पद्धति का रूप स्पष्ट कर रहे हैं, जिसमें कहीं-कहीं प्राचीन सिद्धान्तों की नवीन व्याख्या भी मिलती है। वे शुक्ल जी के सच्चे उत्तराधिकारी हैं और उनकी सूत्रात्मक शैली गंभीर होने पर भी स्वच्छ तथा विचारोत्तेजक है। शुक्लजी के बाद अपने सिद्धान्तों को दृढ़ता से प्रस्तुत करने की उनमें अद्भुत क्षमता है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और नगेन्द्र ने आधुनिक साहित्य की समीक्षा के अनुकूल शुक्लजी की आलोचना-प्रणाली में संशोधन-परिवर्द्धन किया, तो **आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी** ने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'कबीर', 'हिन्दी साहित्य आदिकाल', 'विचार और वितर्क', 'साहित्य का साथी', 'कल्पलता', 'अशोक के फूल' आदि रचनाओं में ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से शुक्लजी के कार्य को आगे बढ़ाया। जीवन में सन्तों का आदर्श लेकर रवीन्द्र की प्रेरणा से जिस मानवतावादी दृष्टिकोण का विकास द्विवेदी जी ने किया था उसे संस्कृत, पालि और प्राकृत ही नहीं, अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं के साहित्य के गम्भीर अनुशीलन से ऐसा आत्मसात् कर लिया कि वे हिमालय से निःसृत गंगा की भाँति ज्ञान-विज्ञान की सीमाओं में साहित्य की जन-हितकारी परम्परा का गंगा-जल लिये उपस्थित होते रहते हैं। उनकी लोक-जीवन में भी अटूट आस्था है; अतः व्यापकता और गहराई उनकी आलोचना-प्रणाली की प्रमुख विशेषताएँ हैं। साहित्य को वे समाज-शास्त्रीय और उदारवादी दोनों दृष्टिकोण से देखते हैं। सामान्य से विषय पर वे प्राचीन काल से लेकर आज तक की जानकारी प्रस्तुत कर देते हैं और बीच-बीच में पाण्डित्य, भावुकता और व्यंग-विनोद से पाठक को अपने साथ लिये चलते हैं।

शुक्ल जी के बाद यह जो सौंदर्यशास्त्राधारित समन्वयात्मक, स्वच्छन्दतावादी और ऐतिहासिक-सांस्कृतिक आलोचना-प्रणाली विकसित हुई है, उसे आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने **'तटस्थ और ऐतिहासिक भूमिका**

पर उद्भासित साहित्यिक समीक्षा' का नाम दिया है। उन्होंने लिखा है कि **"भारतेन्दु युग से आरम्भ होने वाली साहित्यिक समीक्षा यहाँ आकर एक प्रकार की पूर्णता ग्रहण करती है।"** ('नया साहित्य : नये प्रश्न', पृष्ठ २७)।

साहित्यिक समीक्षा को पूर्णता की सीमा पर पहुँचाने में उपर्युक्त आलोचकों के अतिरिक्त जिन अनेक अन्य आलोचकों ने अपना योगदान दिया, उनमें **बाबू गुलाबराय, शांतिप्रिय द्विवेदी, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डॉक्टर जगन्नाथप्रसाद शर्मा, कृष्णशंकर शुक्ल, पं० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख', गिरीश', डॉक्टर सत्येन्द्र, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, डॉक्टर भगीरथ मिश्र, परशुराम चतुर्वेदी, डॉक्टर श्रीकृष्णलाल, डॉक्टर वार्ष्णेय** आदि प्रमुख हैं। बाबू गुलाबराय समन्वयवादी आलोचक माने जाते हैं और वे शुक्ल जी के समय से लिखते चले आ रहे हैं। 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' में उनका यह समन्वयवादी रूप खूब निखरा है। वे अपनी सुबोध शैली के कारण बड़े लोकप्रिय हैं। शांतिप्रिय द्विवेदी ने सबसे पहले छायावादी काव्य की सहानुभूतिपूर्ण आलोचना करके उसके सौन्दर्य-पक्ष का उद्घाटन किया। 'सामयिकी', 'संचारिणी' और 'ज्योति विहग आदि उनकी श्रेष्ठ कृतियाँ हैं। उनकी आलोचना स्वयं एक कला-सृष्टि है, जो हिन्दी में अलग महत्त्व रखती है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'भूषण', 'बिहारी' और 'घनानन्द' के ग्रंथों का सम्पादन-संशोधन किया है। वह उन्हें रीतिकालीन काव्य-साहित्य और शास्त्रीय आलोचना दोनों का सर्वश्रेष्ठ विद्वान् घोषित करता है। 'बिहारी' की भूमि में 'शृंगार-काल' और 'रीतिबद्ध' तथा 'रीति-मुक्त' कवियों का विवेचन प्रौढ़ और तर्कपूर्ण है। वे शुक्लजी के सर्वाधिक निकट हैं। डॉक्टर जगन्नाथ-प्रसाद शर्मा ने पहले 'हिन्दी-गद्य-शैली का विकास' और फिर 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' लिखकर शुक्लजी की परम्परा में योग दिया है। सर्वश्री कृष्णशंकर शुक्ल, रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख', गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश', सत्येन्द्र आदि ने भी शुक्लजी की प्रणाली पर ही समीक्षाएँ की हैं। इनमें डॉक्टर सत्येन्द्र अब लोक-साहित्य की ओर मुड़ गए हैं।

पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' नामक अपने शोध-ग्रंथ द्वारा सन्त-काव्य की मार्मिक व्याख्या की और डॉक्टर हजारी-प्रसाद द्विवेदी तथा परशुराम चतुर्वेदी ने सन्त काव्यानुसन्धानकर्ताओं का पथ प्रशस्त किया। डॉक्टर भगीरथ मिश्र ने 'भारतीय काव्य-शास्त्र का इतिहास'-जैसा प्रामाणिक शोध-ग्रंथ तो लिखा ही है, 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' और विभिन्न विषयों पर निबन्ध लिखकर अपनी उदार दृष्टि का परिचय भी दिया है। परशुराम चतुर्वेदी ने 'उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा' तथा अन्य ग्रंथों द्वारा हजारीप्रसाद द्विवेदी की ऐतिहासिक-सांस्कृतिक आलोचना-पद्धति का विकास किया है। डॉक्टर श्रीकृष्णलाल और डॉक्टर वार्ष्णेय ने मिलकर सन् १८०० से लेकर आज तक के हिन्दी भाषा और साहित्य पर प्रामाणिक कार्य किया है। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा आयोजित 'हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास' के पहला तथा पांचवां जो दो खण्ड प्रकाशित हुए हैं, वे आलोचना-साहित्य की अपूर्व निधि हैं। इनमें से पहले भाग का सम्पादन डॉ० राजबली पाण्डेय और पाँचवें का सम्पादन डॉ० नगेन्द्र ने किया है। इस इतिहास-माला में हिन्दी के अनेक समी-क्षक और प्राध्यापक योग दे रहे हैं। इनके अतिरिक्त भी अनेक आलोचक हैं, जिनकी देन कम नहीं है; पर उन सबका उल्लेख करना स्थानाभाव के कारण संभव नहीं।

आचार्य शुक्ल द्वारा प्रवर्तित और उपर्युक्त आलोचकों द्वारा पूर्णता-प्राप्त साहित्यिक आलोचना के अतिरिक्त आलोचना के निम्नलिखित रूप और भी हैं—**१–मार्क्सवादी आलोचना, २–मनोविश्लेषणात्मक आलोचना, ३–प्रभाववादी आलोचना, ४–चरितमूलक आलोचना, ५–सैद्धान्तिक आलोचना, ६–शोधात्मक आलोचना।**

१ मार्क्सवादी आलोचना—यह आलोचना-प्रणाली सन् '३६ में प्रगतिशील लेखक सम्मेलन की स्थापना के साथ प्रकाश में आई। यह मार्क्सवादी विचार-धारा को लेकर चलती है। सामयिक राजनीति इस आलोचना का नियमन करती है। मार्क्सवाद में वर्ग-संघर्ष का महत्त्व है।

मार्क्स की मान्यतानुसार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त पर वर्गों का संघर्ष निरन्तर चलता रहता है और संघर्ष से ही समाज का विकास होता है। मार्क्सवादी विचारकों की सम्मति में 'आदिम साम्यवाद', से 'दास प्रथा', 'दास प्रथा' से 'सामन्तवाद', 'सामन्तवाद' से 'पूंजीवाद' और 'पूंजीवाद' से 'समाजवाद' के विकास का स्वाभाविक क्रम है। इनका लक्ष्य समाजवाद है, अतः पूंजीवादी समाज का ध्वंस होना ही चाहिए। साहित्य और कला में इस भावना की प्रतिष्ठा हो और आलोचना एक ओर इस मत के विरोधियों को समाज-द्रोही करार दे एवं दूसरी ओर ऐसे साहित्य-सृजन की प्रेरणा दे, यह मार्क्सवादी कलाकार और आलोचक चाहते हैं। भौतिकता के अनिवार्य आग्रह के कारण धर्म, ईश्वर आदि व्यर्थ का आडम्बर हैं, अतः इन पर भी प्रहार होना चाहिए और अर्थ ही मानव-चेतना का नियामक तथा संस्कृति का मूल आधार माना जाना चाहिए। इस विचार-धारा के आलोचकों में **शिवदानसिंह चौहान, रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, भगवतशरण उपाध्याय, अमृतराय, रांगेय राघव, यशपाल** आदि प्रमुख हैं। इसका गुण तो यह है कि इसने काव्य और साहित्य को सामाजिक तत्त्वों से जोड़कर यथार्थ की ओर हमारा ध्यान खींचा; और दोष यह है कि यह वाद-ग्रस्त होकर रह गई है।

मनोविश्लेषणात्मक आलोचना—मार्क्सवादी आलोचना सामाजिकता को अत्यधिक महत्त्व देती है तो मनोविश्लेषणात्मक आलोचना कला और साहित्य को अन्तर्मन की अपूर्ण इच्छाओं का परिणाम मानती है। फ्रायड एडलर, युंग आदि मनोविज्ञान-वेत्ताओं के अनुसार हमारी अनेक वासनाएँ धार्मिक और सामाजिक बन्धनों के कारण अपूर्ण रह जाती हैं। ये वासनाएँ हमारे मस्तिष्क में पड़ी-पड़ी चेतन मस्तिष्क में आने की चेष्टा करती रहती हैं। स्वप्न इन्हीं दमित वासनाओं के परिणाम होते हैं। इनकी सुन्दरतम अभिव्यक्ति कला और साहित्य में होती है, क्योंकि वहाँ इनका उदात्तीकरण हो जाता है। मनोविज्ञान का यह सिद्धान्त कला और

साहित्य द्वारा समर्थित होने पर 'मनोविश्लेषणात्मक आलोचना' के जन्म का कारण हुआ। हिन्दी में **इलाचन्द्र जोशी** और **अज्ञेय** प्रसिद्ध मनो-विश्लेषणात्मक आलोचक हैं। डॉक्टर नगेन्द्र ने भी इसका आश्रय लिया था, पर वे अब इससे मुक्त होने की चेष्टा में हैं। यह आलोचना-प्रणाली साहित्यिक कृतियों की मूलभूत प्रेरणाओं का विश्लेषण करती है, पर यह पूर्णतः कुण्ठाओं या दमित वासनाओं पर अपने को आधारित मानने के कारण वैसी ही एकांगी है जैसी कि मार्क्सवादी आलोचना-प्रणाली सामाजिकता पर बल देने के कारण। भारतीय समीक्षा-शास्त्र का आधार दोनों में से कोई नहीं लेती। अतः अपनी परम्परा से विच्छिन्न संकीर्ण दृष्टिकोण के कारण दोनों से साहित्य का जैसा हित होना चाहिए, वैसा नहीं हो रहा। हाँ, मार्क्सवादी इधर अवश्य उदार हो रहे हैं, जो शुभ है।

प्रभाववादी आलोचना—इस आलोचना में आलोचक आलोच्य कृति द्वारा अपने पर पड़े प्रभाव को ही व्यक्त करता है। इस प्रकार की आलोचना में आलोचक के मनोभाव ही प्रधान हो जाते हैं और वह आलोच्य विषय से दूर चला जाता है। प्रभाववादी आलोचकों में **शान्तिप्रिय द्विवेदी** और **भगवतशरण उपाध्याय** प्रमुख हैं। द्विवेदीजी ने छायावादी कवियों की आलोचना और उपाध्यायजी ने 'गुरुभक्तसिंह की नूरजहाँ' में यही आलोचना-प्रणाली अपनाई है। जहाँ इस आलोचना-प्रणाली में विषयान्तर का दोष है वहाँ कृति के भाव को स्पष्ट करने का गुण भी है। इस क्षेत्र में शांतिप्रिय द्विवेदी एकच्छत्र सम्राट् हैं।

चरित-मूलक आलोचना—हिन्दी में इस प्रणाली पर अभी अधिक कार्य नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि अभी कवियों की जीवनियों का ही हमारे यहाँ अभाव है। प्राचीन कवियों के नाम, जन्म-स्थान आदि का ही निर्णय जब नहीं हो पाया है तो जीवन की अन्य गहरी बातों की जानकारी तो दूर की बात है। नये साहित्यकारों पर भी इस दृष्टि से विशेष कार्य नहीं हुआ। अब तक चरित-मूलक आलोचना के दो ही उल्लेखनीय ग्रन्थ निकले हैं।—१-'महाप्राण निराला' (गंगाप्रसाद पाण्डेय-

कृत) और २-'वृन्दावनलाल वर्मा : व्यक्तित्व और कृतित्व' (डॉक्टर पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'-कृत)। इनमें चरित-मूलक आलोचना का स्वस्थ और सन्तुलित रूप 'वृन्दावनलाल वर्मा : व्यक्तित्व और कृतित्व' में ही मिलता है।

सैद्धान्तिक आलोचना—हिन्दी का अपना काव्य-शास्त्र न होने से सैद्धान्तिक आलोचना का नितान्त अभाव है। जो कुछ सैद्धान्तिक आलोचना मिलती भी है, वह छायावादी या प्रगतिवादी कवियों और कथाकारों द्वारा अपनी पुस्तकों में लिखित भूमिकाओं में व्यक्त विभिन्न साहित्यिक मान्यताओं की अभिव्यक्ति में मिलती है। उनका विवेचन-विश्लेषण करके कोई सिद्धान्त निकालने का प्रयत्न अभी नहीं हुआ।

इसके अतिरिक्त सैद्धान्तिक आलोचना दो रूपों में मिलती है। इसका पहला रूप **प्राचीन काव्य-शास्त्रीय आधार पर विकसित सैद्धान्तिक आलोचना का है,** जिसके अन्तर्गत **सेठ कन्हैयालाल पोद्दार**-कृत 'काव्य-कल्पद्रुम', 'अलंकार मंजरी' और 'रस मंजरी', **बाबू गुलाबराय**-कृत 'नवरस', **जगन्नाथप्रसाद 'भानु'**-कृत 'काव्य प्रभाकर', **रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'**-कृत 'अलंकार पीयूष', **लाला भगवानदीन**-कृत 'अलंकार मंजूषा', **अर्जुनदास केडिया**-कृत 'भारती भूषण', **हरिऔध**-कृत 'रस कलश', **रामदहिन मिश्र**-कृत 'काव्यालोक' आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। इनका विवेचन रीति-काल की अपेक्षा प्रौढ़ है और इनमें से बहुतों में लक्षणों के उदाहरण आधुनिक काव्य-कृतियों से भी लिये गए हैं। कुछ अनूदित काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ भी उसी परम्परा में आते हैं। जिनमें 'साहित्य-दर्पण' (शालिग्राम शास्त्री-द्वारा अनूदित), 'रस गंगाधर' (पुरुषोत्तम चतुर्वेदी द्वारा अनूदित), 'ध्वन्यालोक', 'वक्रोक्ति जीवितम्' (आचार्य विश्वेश्वर द्वारा अनूदित), 'भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा' (डॉ० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित, जिसमें शुक्ल-पन्त-महादेवी आदि हिन्दी के साहित्यिकों की साहित्यिक मान्यताएँ भी संकलित हैं) आदि प्रमुख हैं। बलदेव उपाध्याय का 'भारतीय साहित्य शास्त्र', सीताराम चतुर्वेदी का

'समीक्षा-शास्त्र' और गोविन्द त्रिगुणायत का 'शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त' भी इसी श्रेणी के ग्रन्थ हैं। दूसरा रूप **पाश्चात्य और भारतीय काव्य-शास्त्र का समन्वय करके चलने वाली सैद्धान्तिक आलोचना का है,** जिसके अन्तर्गत **बाबू श्यामसुन्दरदास**-कृत 'साहित्यालोचन', 'रस मीमांसा', **गुलाबराय**-कृत 'सिद्धान्त और अध्ययन', लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु'-कृत 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' तथा 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त', क्षेमचन्द्र 'सुमन'-कृत 'साहित्य-विवेचन' आदि महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें आचार्य शुक्ल और सुधांशु का झुकाव भारतीय दृष्टिकोण की ओर अधिक है, जब कि श्यामसुन्दरदास, बाबू गुलाबराय और सुमनजी का सन्तुलन की ओर।

शोधात्मक आलोचना—शोध का कार्य नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना (१८९३) और 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (१८९७) द्वारा प्रारम्भ हुआ था। भारतीय विश्वविद्यालयों में पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति के प्रभाव और यूरोपीय विद्वानों के संस्कृत की महत्ता के शंखनाद से उसे अनेक प्रकार की सहायता मिली। आजकल हिन्दी में शोध-कार्य की बड़ी धूम है। सैकड़ों ही शोध-कर्त्ता शोध-कार्य में संलग्न हैं।

हिन्दी में सबसे पहला शोध-प्रबन्ध मोहिउद्दीन कादरी का था, जिन्होंने सन् १९३० में लन्दन से हिन्दुस्तानी ध्वनियों पर पी० एच० डी० की सम्मानित उपाधि प्राप्त की थी। इसी प्रकार भारतीय विश्व-विद्यालयों में सबसे पहले प्रयाग विश्वविद्यालय से डॉक्टर बाबूराम सक्सेना को अपने 'अवधी का विकास' शोध-प्रबन्ध पर डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त हुई थी। विशेष धारा या प्रवृत्ति को लेकर लिखा गया सबसे पहला शोध-प्रबन्ध डॉक्टर पीतम्बरदत्त बड़थ्वाल का 'हिन्दी-काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' था, जिस पर उन्हें काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सन् १९३४ में डी० लिट्० की उपाधि मिली थी।

विगत पच्चीस वर्षों में शोध-कार्य की यह परम्परा द्रुत गति से आगे बढ़ी है। शिष्ट साहित्य पर तो कार्य हुआ ही है, लोक-साहित्य की ओर

भी शोध-कर्ताओं की दृष्टि गई है। लोक-साहित्य पर काम करने वाले सबसे पहले विद्वान् डॉक्टर सत्येन्द्र हैं, जिन्हें आगरा विश्वविद्यालय से सन् १९४७ में 'ब्रज-लोक-साहित्य का अध्ययन' पर पी-एच० डी० की उपाधि दी गई थी। उसके पश्चात् डॉक्टर कृष्णदेव उपाध्याय ने 'भोजपुरी लोक-साहित्य' पर, सत्यव्रत सिनहा ने 'भोजपुरी लोक-गाथा' पर, डॉक्टर कन्हैयालाल सहल ने राजस्थानी कहावतों पर, और डॉक्टर श्याम परमार ने 'मालवी लोक-साहित्य' पर अच्छा कार्य किया है। इधर तो अनेक शोधकर्ता जनपदीय बोलियों की साहित्य-सम्पत्ति को प्रकाश में लाने के लिए निरन्तर श्रम कर रहे हैं।

शिष्ट-साहित्य पर जो कार्य हुआ है उसके मुख्य विषय ये हैं—१-भाषा और भाषा-विज्ञान। २-हिन्दी-साहित्य का इतिहास। ३-हिन्दी-साहित्य की पृष्ठभूमि और परम्परा। ४-विशेष धारा या प्रवृत्ति। ५-विशेष कवि-लेखक अथवा विशिष्ट कृति का अध्ययन। ६-सम्प्रदाय और तत्सम्बन्धी कवि-समुदाय और साहित्य। ७-काव्य-शास्त्र और ८-महाकाव्य, नाटक आदि काव्य-रूपों का अध्ययन।

भाषा और भाषा-विज्ञान पर डॉक्टर सिद्धेश्वर वर्मा, डॉक्टर बाबूराम सक्सेना, डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा, डॉक्टर विश्वनाथप्रसाद, डॉक्टर उदयनारायण तिवारी आदि; हिन्दी-साहित्य के इतिहास पर डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉक्टर रामकुमार वर्मा, डॉक्टर श्रीकृष्णलाल, डॉक्टर लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय आदि; हिन्दी-साहित्य की पृष्ठभूमि पर डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी, परशुराम चतुर्वेदी आदि, विशेष धारा या प्रवृत्ति पर डॉक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, चन्द्रबली पाण्डे, डॉक्टर नगेन्द्र, डॉक्टर मुंशीराम शर्मा आदि; विशिष्ट कवि, लेखक या विशिष्ट कृति पर डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, रामकुमार वर्मा, डॉक्टर नगेन्द्र, डॉक्टर कमल कुलश्रेष्ठ, डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त, डॉक्टर हरवंशलाल शर्मा, डॉ० विनयमोहन शर्मा, डॉक्टर इन्द्रनाथ मदान, डॉक्टर जगन्नाथप्रसाद शर्मा, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डॉ० विपिनविहारी

त्रिवेदी, डॉ० उदयभानसिंह आदि; सम्प्रदाय और तत्सम्बन्धी कवि-समुदाय या साहित्य पर डॉक्टर दीनदयालु गुप्त, डॉक्टर विजयेन्द्र स्नातक, डॉक्टर भगवतीशरणसिंह, डॉक्टर त्रिलोकीनारायण दीक्षित आदि; काव्य-शास्त्र पर डॉक्टर नगेन्द्र, डॉक्टर भगीरथ मिश्र, डॉक्टर राकेश गुप्त आदि; महाकाव्य, नाटक आदि दूसरे काव्य-रूपों पर डॉक्टर शम्भूनाथसिंह, डॉक्टर प्रतिपालसिंह, डॉक्टर दशरथ ओझा, डॉक्टर सोमनाथ गुप्त, डॉक्टर देवराज उपाध्याय आदि ने अच्छा शोध-कार्य किया है।

इस परम्परा में अनेक और भी शोध-कर्ता अच्छा कार्य कर रहे हैं। शोध का अभिप्राय नवीन तथ्यों का अनुसन्धान या उपलब्ध सामग्री की नूतन व्याख्या से है। लेकिन कुछ शोध-प्रबन्ध शोध के इस ध्येय को पूरा नहीं करते। एक भ्रम यह भी रहा कि पृष्ठों की अधिकता शोध-प्रबन्ध की श्रेष्ठता का आधार है। फिर एक ही विषय पर कई-कई शोधकर्ता कार्य करते पाये जाते हैं। पुस्तकालयों, निर्देशकों, स्वीकृत शोध-प्रबन्धों के प्रकाशन आदि कई प्रकार की असुविधाओं के कारण शोध-कार्य उच्च स्तर का नहीं हो पाता। इस कठिनाई को दूर करने के लिए मई १९५९ में दिल्ली विश्व-विद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष डॉक्टर नगेन्द्र ने एक अनुसन्धान-गोष्ठी का आयोजन करके शोध-कार्य को व्यवस्थित रूप देने का अच्छा प्रयत्न किया था।

१०

अन्य विधाएँ

गद्य-साहित्य की अन्य विधाओं में निम्नलिखित प्रमुख हैं—१-**जीवनी, २-संस्मरण, ३-रेखाचित्र, ४-इन्टरव्यू, ५-रिपोर्ताज, ६-पत्र और डायरी** तथा **७-लघु कथा**।

जीवनी—जीवन के प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण के कारण भारत में जीवनी-लेखन की प्रथा नहीं रही। पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति के सम्पर्क से पहले भक्ति-काल में 'भक्तमाल' और 'वार्त्ताएँ' ही जीवनी-साहित्य के नाम पर मिलती हैं। रीतिकाल में भी उन्हीका अनुकरण होता रहा। रीवां के महाराज रघुराजसिंह-कृत 'रामरसिकावली' (१८५७) और राधाचरण गोस्वामी-कृत 'नव भक्त माल' (१८८६) उसी परम्परा की उल्लेखनीय कृतियां हैं। आधुनिक काल में दो प्रकार से जीवनियां लिखी गई हैं—**आत्म-कथामक और वर्णनात्मक**। **आत्म-कथात्मक** जीवनी-साहित्य वहुत कम है। प्राचीनतम 'आत्मकथा' जैन-कवि बनारसीदास-लिखित 'अर्द्ध कथा' (सन् १६४१) है। इसके पश्चात् स्वामी दयानन्द लिखित 'स्वरचित जीवन चरित', सत्यानन्द अग्निहोत्री-कृत 'मुझमें देव-जीवन का 'विकास', 'अपने देव-जीवन के विकास और जीवन-व्रत की सिद्धि के लिए मेरा अद्वितीय त्याग' तथा 'अपने छोटे भाई के सम्बन्ध में मेरी सेवाएँ', स्वा० श्रद्धानन्द-कृत 'कल्याण मार्ग का पथिक', भाई परमानन्द-कृत 'आपबीती', भवानीदयाल संन्यासी-कृत 'प्रवासी

की आत्म-कथा', राजाराम-कृत 'मेरी कहानी', बाबू गुलाबराय-कृत 'मेरी असफलताएं', बाबू श्यामसुन्दरदास-कृत, 'मेरी आत्म-कहानी', डा० राजेन्द्र प्रसाद-कृत 'आत्मकथा', घनश्यामदास बिड़ला-कृत 'डायरी के कुछ पृष्ठ', वियोगीहरि-कृत 'मेरा जीवन प्रवाह', हरिभाऊ उपाध्याय-कृत 'साधना के पथ पर', शान्तिप्रिय द्विवेदी-कृत 'परिव्राजक की प्रजा', मूलचन्द्र अग्रवाल की 'पत्रकार की आत्म-कथा', देवीदत्त शुक्ल की 'सम्पादक की आत्म-कथा', भगवानदास केला की 'मेरा साहित्यिक जीवन', सेठ गोविन्ददास की 'आत्म-निरीक्षण', राहुल सांकृत्यायन की 'मेरी जीवन-यात्रा,' इन्द्र विद्यावाचस्पति की 'मेरी जीवन-स्मृतियाँ', रामप्रसाद बिस्मिल की 'आत्म कथा' आदि प्रमुख हैं।

वर्णनात्मक जीवनियों में, देश-विदेश के सन्तों और धार्मिक पुरुषों, ऐतिहासिक महापुरुषों, राजनैतिक नेताओं आदि की जीवनियाँ लिखी गई हैं। **सन्तों और धार्मिक पुरुषों में** स्वामी दयानन्द की जीवनियाँ अधिक हैं। उनमें गोपाल शर्मा शास्त्री-कृत 'दयानन्द दिग्विजय', चिमनलाल वैश्य-कृत 'स्वामी दयानन्द', और स्वामी सत्यानन्द-कृत 'दयानन्द प्रकाश' आदि उल्लेखनीय हैं। अन्य सन्तों में स्वामी रामतीर्थ, विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस, राममोहन राय, श्रद्धानन्द आदि के अच्छे जीवन-चरित लिखे गए हैं। **ऐतिहासिक महापुरुषों में** देवीप्रसाद मुंसिफ-कृत 'मानसिंह', 'मालदेव', 'उदयसिंह महाराणा', 'जसवन्त सिंह', 'प्रतापसिंह महाराणा' और 'संग्रामसिंह राणा', राधाकृष्णदास-कृत 'आर्य चरितामृत', 'बप्पारावल' आदि, कार्तिकप्रसाद खत्री-कृत 'महाराजा विक्रमादित्य' और 'अहिल्याबाई', रामनारायण दूगड़-कृत 'पृथ्वीराज चरित्र', जगमोहन वर्मा-कृत 'बुद्धदेव', सम्पूर्णानन्द-कृत 'सम्राट् हर्षवर्द्धन' 'सम्राट् अशोक', 'महाराजा छत्रसाल', 'महादाजी सिंधिया', 'अकबर', 'हुमायूं', 'शिवाजी', 'गुरु गोविन्दसिंह', 'रणजीतसिंह' आदि की जीवनियां प्रसिद्ध हैं। **राजनैतिक नेताओं में** गंगाप्रसाद गुप्त-कृत 'दादा भाई नौरोजी', महादेव भट्ट-कृत 'लाजपत महिमा',

अलगूराय शास्त्री-कृत 'लाला लाजपतराय' और 'अरविन्द महिमा', मुकुन्दीलाल वर्मा-कृत 'कर्मवीर गाँधी', और सम्पूर्णानन्द-कृत 'धर्मवीर गाँधी', गोपीनाथ दीक्षित-कृत 'जवाहरलाल नेहरू', मन्मथनाथ गुप्त-कृत 'चन्द्रशेखर आजाद' और 'यतीन्द्रनाथ', जगदीश तिवारी-कृत 'सुभाष बोस की जीवनी', सीताराम चतुर्वेदी-कृत 'महामना मालवीय', रामवृक्ष बेनीपुरी-कृत 'विप्लवी जयप्रकाश', रामनरेश त्रिपाठी-कृत 'मालवीय जी के साथ तीस दिन', बनारसीदास चतुर्वेदी-कृत 'भारत-भक्त एण्ड्रूज', क्षेमचन्द्र 'सुमन'-कृत 'नये भारत के निर्माता', फतहचन्द 'आराधक'-कृत 'जन नायक', गोपालप्रसाद व्यास-कृत 'हमारे राष्ट्रपिता' आदि अच्छी जीवनियाँ हैं। **साहित्यकारों** की जीवनियाँ कम लिखी गई हैं, अधिकांश कवियों और कलाकारों की जीवनियाँ उनके साहित्य-विवेचन के प्रसंग में लिखी गई हैं। स्वतंत्र रूप से लिखी गई साहित्यकारों की जीवनियों में बनारसीदास चतुर्वेदी-कृत 'सत्यनारायण कविरत्न की जीवनी', राहुल-कृत 'नये भारत के नये नेता', डॉ० रामविलास शर्मा-कृत 'निराला' आदि ही अच्छी कृतियां हैं। **विदेशी महापुरुषों** में रमाशंकर व्यास-कृत 'नेपोलियन बोनापार्ट', सिद्धेश्वर वर्मा-कृत 'गेरीबाल्डी', गौरीशंकर हीराचन्द ओझा-कृत 'कर्नल जेम्स टाड' (१६०२), बेनीप्रसाद-कृत 'महात्मा सुकरात', सुरेन्द्रनाथ तिवारी-कृत 'मैक्समूलर', सत्यभक्त-कृत 'कार्लमार्क्स', सदानन्द-कृत 'लेनिन', राहुल-कृत 'स्टालिन', चन्द्रशेखर शास्त्री-कृत 'हिटलर महान्' आदि पुस्तकें उल्लेखनीय हैं।

संस्मरण—तथ्यात्मक या इतिवृत्तात्मक पद्धति को छोड़कर जब किसी व्यक्ति के जीवन की चारित्रिक विशेषताओं को प्रकट करने वाली रोचक घटनाओं या परिस्थितियों का वैयक्तिक सम्पर्क के आधार पर लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जाता है तो वह संस्मरण होता है। इसके प्रवर्त्तक तुलनात्मक समालोचना के आदि जनक आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा हैं। उनके पश्चात् इस क्षेत्र में बनारसीदास चतुर्वेदी, श्रीराम शर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर',

रामनाथ 'सुमन', राहुल सांकृत्यायन, शिवपूजन सहाय, महादेवी वर्मा, रायकृष्णदास, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, शिवरानी प्रेमचन्द आदि ने अच्छा कार्य किया है। इनमें से कुछ ने पत्र-पत्रिकाओं में जो संस्मरण लिखे हैं, उनका अभी संग्रह नहीं हुआ है। संस्मरण की उपलब्ध पुस्तकों में 'संस्मरण' (बनारसीदास चतुर्वेदी), 'प्रेमचन्द : घर में' (शिवरानी प्रेमचन्द), 'जो मैं भूल न सका' और 'जो लिखना पड़ा' (भदन्त आनन्द कौसल्यायन), 'जीवन स्मृतियाँ' और 'जैसा हमने देखा' (क्षेमचन्द्र 'सुमन'), 'बापू के आश्रम में' (हरिभाऊ उपाध्याय), 'बापू की पावन स्मृतियाँ' (घनश्यामदास बिड़ला), 'भूले हुए चेहरे' (कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'), 'मंटो : मेरा दुश्मन' (उपेन्द्रनाथ अश्क) आदि श्रेष्ठ हैं।

संस्मरण-साहित्य का एक बहुत बड़ा भण्डार विशिष्ट साहित्यिकों अथवा राष्ट्र-सेवियों को दिये गए अभिनन्दन-ग्रंथों और पत्रों के विशेषांकों में भरा पड़ा है। साहित्यकारों में महावीरप्रसाद द्विवेदी, अयोध्यासिंह उपाध्याय, सेठ गोविन्ददास, कन्हैयालाल पोद्दार, भगवतीप्रसाद बाजपेयी नाथूराम 'प्रेमी' आदि और राष्ट्र-सेवियों में डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, जवाहरलाल नेहरू, राधाकृष्णन्, श्रीकृष्ण सिन्हा, सम्पूर्णानन्द आदि को भेंट किये गए अभिनन्दन-ग्रंथों में कलात्मक संस्मरण हैं। प त्रों में 'हंस' का 'प्रेमचन्द-स्मृति-अंक' तो प्रमुख है ही, 'विशाल भारत', 'साहित्य संदेश' आदि के भी कई साहित्यकारों पर अच्छे विशेषांक निकले हैं, जिनमें उन पर लिखे गए सुन्दर संस्मरण हैं।

रेखाचित्र—किसी व्यक्ति का शब्दों द्वारा ऐसा चित्र प्रस्तुत करना कि उसका व्यक्तित्व सजीव और साकार हो उठे, रेखा-चित्र या शब्द-चित्र कहलाता है। यह अंग्रेजी 'स्कैच' के स्थान पर प्रयुक्त होता है। चित्रकार कुछ ही रेखाओं से जैसे व्यक्ति विशेष की अन्तर्बाह्य रूप-रेखा को स्पष्ट करता है वैसे ही रेखा-चित्रकार मात्र शब्दों द्वारा अपने अभीष्ट व्यक्ति के रूप और भाव को स्पष्ट करता है। किसी विशेष दृष्टिकोण से जब संक्षिप्त रूप में व्यक्ति विशेष के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त होती है तभी

रेखा-चित्र सफल होता है। इसके लिए अन्तर्भेदिनी दृष्टि और संवेदन-शील हृदय अपेक्षित है, तभी उपयुक्त शब्दों में इसका कलात्मक रूप निखर सकता है। हिन्दी में पं० श्रीराम शर्मा-कृत 'बोलती प्रतिमा', महादेवी वर्मा-कृत 'अतीत के चल-चित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ', बनारसीदास चतुर्वेदी-कृत' 'रेखा-चित्र', रामवृक्ष बेनीपुरी-कृत 'माटी की मूरतें', 'गेहूँ और गुलाब', प्रकाशचन्द्र गुप्त-कृत 'पुरानी स्मृतियाँ और नये स्कैच', कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर-कृत 'दीप जले शंख बजे', देवेन्द्र सत्यार्थी-कृत 'रेखाएँ बोल उठीं', हर्षदेव मालवीय-कृत 'ढुलंगते इक्के, पके आम' इस विधा की बहुमूल्य कृतियाँ हैं। हास्य और व्यंगमय रेखा-चित्र लिखने में निराला और उसके बाद जयनाथ 'नलिन' का नाम आता है। निराला की 'कुल्ली भाट' और 'बिल्लेसुर बकरिहा' तथा नलिन का 'शतरंज के मुहरे' इस विषय की उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

इण्टरव्यू—हिन्दी में यह विधा नितान्त नूतन है, इसमें इण्टरव्यू देने वाला व्यक्ति अपनी मान्यताओं को स्वयं व्यक्त करता है और यह इण्टरव्यू लेने वाले पर निर्भर है कि वह इण्टरव्यू देने वाले को अपना विश्वास-पात्र बनाकर उससे जो चाहे सो निकलवा ले। यह बड़ा कठिन कार्य है; जो श्रद्धा, परिश्रम तथा बुद्धिमत्ता पर निर्भर करता है।

राजनीतिज्ञों के इण्टरव्यू तो दैनिक पत्रों में पढ़ने को मिल जाते थे, पर साहित्यिकों के इण्टरव्यू नहीं लिखे जाते थे। हिन्दी में इस दिशा में एक-मात्र उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण कार्य इन पंक्तियों के लेखक का है, जिसने 'मैं इनसे मिला' (दो भाग) में हिन्दी के प्रमुख साहित्यिकों के ऐसे इण्टरव्यू लिखे हैं, जो उनके जीवन और साहित्य की पूरी जानकारी देते हैं। उनमें रेखा-चित्र और संस्मरण के भी तत्त्व मिल गए हैं, जिससे वे अत्यधिक रोचक हो उठे हैं। बिहार की 'नई धारा' में तो 'हम इनसे मिले थे' शीर्षक स्तम्भ ही खुल गया है, जिसमें विभिन्न लेखकों द्वारा लिखित इण्टरव्यू पढ़ने को मिलते हैं।

रिपोर्ताज़—यह भी गद्य की नूतन विधा है। द्वितीय महायुद्ध के

समय इसका प्रचलन हुआ था। महायुद्ध की विभीषिका का अनुभव कराने के लिए युद्ध का जो आँखों-देखा हाल लिखा जाता था उसे रिपोर्ताज नाम दिया गया। रिपोर्ताज में घटना, दृश्य या वस्तु का जो चित्रण होता है, उसकी भाषा बड़ी ही सजीव होती है। रेडियो से गणतंत्र दिवस या क्रिकेट मैच आदि का जो आँखोंदेखा हाल सुनाया जाता है, वह रिपोर्ताज ही है। हिन्दी में सबसे पहले 'रांगेय राघव' ने बंगाल के अकाल के समय रिपोर्ताज लिखे थे, जो 'हंस' में छपे और बाद में 'तूफानों के बीच' पुस्तक में आये। उसके बाद और लोगों ने भी रिपोर्ताज लिखे, जिनमें शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृतराय, हंसराज रहबर, डॉ० प्रभाकर माचवे आदि प्रमुख हैं।

पत्र और डायरी—साहित्य की विधाओं में इसका भी समावेश होता है। उर्दू में 'गुबारे खातिर' (आज़ाद का पत्र-संग्रह) और रूसी 'टाल्स्टाय की डायरी' स्थायी साहित्य की निधि हैं, जिनमें कलाकार के अन्तर का यथार्थ दर्शन होता है। ये दोनों अकृत्रिम आत्म-प्रकाशन के साधन हैं, अतः बड़े ही मूल्यवान हैं। हिन्दी में इस दिशा में अभी काम नहीं हुआ। पत्र-साहित्य में हिन्दी के बैजनाथसिंह विनोद द्वारा प्रस्तुत 'द्विवेदी पत्रावली' तथा 'द्विवेदी युग के साहित्यकारों के पत्र' और बनारसीदास चतुर्वेदी तथा हरिशंकर शर्मा द्वारा सम्पादित 'पद्मसिंह शर्मा के पत्र' तीन ही ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। डायरी के क्षेत्र में केवल रामवृक्ष बेनीपुरी की डायरी 'नई-धारा' में देखने को मिली है। वस्तुतः हमारे यहाँ इसकी प्रथा ही नहीं है। अनूदित पुस्तकों में 'महादेव भाई की डायरी' महत्त्वपूर्ण है। इधर सेठ जमनालाल बजाज के पत्रों का संग्रह भी दो भागों में प्रकाशित हुआ है।

लघुकथा—यह नितान्त नूतन विधा हिन्दी के प्रसिद्ध विचारक और गद्य-काव्य-लेखक श्री रावी द्वारा समृद्ध हुई है। उनकी लघु कथाओं का अंग्रेजी अनुवाद अमेरिका में छपने की व्यवस्था भी हो रही है। यह हिन्दी के लिए बड़े गौरव की बात है।

११

विविध साहित्य

गत अध्यायों में हम हिन्दी-गद्य की विधाओं में नाटक, एकांकी, ध्वनि-नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, गद्य-काव्य, जीवनी, संस्मरण, रेखाचित्र, इण्टरव्यू, पत्र और डायरी आदि अनेक शैलियों का परिचय दे चुके हैं। उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी-गद्य का प्रवाह अनेक धाराओं में बह रहा है और वह विश्व-साहित्य की प्रतियोगिता के लिए अपने को समर्थ बना रहा है। साहित्य के इस विकसित रूप के अतिरिक्त ललितेतर साहित्य की दिशा में भी हिन्दी-गद्य द्रुत गति से समृद्धि की ओर बढ़ रहा है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् वैधानिक रूप से हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद मिलने से उसका उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया है। हिन्दी अपने इस उत्तरदायित्व को सफलता पूर्वक निर्वाह करने के लिए सजग भी है, इसलिए वह कृषि, वाणिज्य, व्यवसाय, विज्ञान, कला आदि प्रत्येक क्षेत्र में साहित्यिक सम्पत्ति अर्जित कर रही है। इस दृष्टि से उसने राजकीय तथा शैक्षिक कार्यों के लिए हिन्दी में पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण पर सबसे अधिक बल दिया है। इस सम्बन्ध में डॉक्टर रघुवीर का कार्य सर्वाधिक प्रशंसनीय है। यद्यपि उन्होंने संस्कृत के प्रति अत्यधिक आग्रह के कारण लोक-प्रचलित शब्दों को भी छोड़ दिया है तथापि उनकी वैज्ञानिकता में सन्देह नहीं किया जा सकता। इधर केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय ने पारिभाषिक शब्दावली के लिए लोक-प्रचलित अंग्रेजी, हिन्दी तथा इतर भाषाओं के शब्दों को अपनाकर

एक सर्वग्राह्य पारिभाषिक शब्दावली प्रस्तुत करने की चेष्टा की है । माध्यमिक श्रेणियों के लिए विषय-वार शब्दावली प्रकाशित भी हो चुकी है । वस्तुतः हिन्दी के प्रति निहित स्वार्थों के तीव्र विरोध ने हिन्दी की प्रगति में बड़ी बाधा उपस्थित की है । अतः जो कार्य हो रहा है वह सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता । फिर भी हिन्दी अपनी गति से बढ़ ही रही है । सदा की भाँति स्वतन्त्र रूप से वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में संलग्न है । अब तक विविध विषयों में जो कार्य हुआ है वह हिन्दी-गद्य की सामर्थ्य का ही द्योतक है ।

विज्ञान—भौतिक, रसायन, प्राणि-शास्त्र, वनस्पति-शास्त्र, गणित, ज्योतिष आदि विज्ञान के ही भेद हैं । भौतिक में **डॉक्टर गोरखप्रसाद** और **डॉक्टर निहालकरण सेठी** ने उच्चकोटि के ग्रंथ लिखे हैं । डॉक्टर सेठी ने भौतिक विज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण का कार्य भी किया है । रसायन के क्षेत्र में **गोपालस्वरूप भार्गव**, **फूलदेव सहाय वर्मा** और **डॉक्टर सत्यप्रकाश** की सेवाएँ उल्लेखनीय हैं । प्राणि-शास्त्र की दृष्टि से **चम्पत स्वरूप**, **मुकटबिहारी वर्मा** और **वेनीचरण महेन्द्र** ने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का कार्य किया है । वनस्पति-शास्त्र की दृष्टि से **महेशचरण सिंह**, **सुखसम्पतिराय भण्डारी** और **शालिग्राम भार्गव** की पुस्तकें पठनीय हैं । गणित में **ब्रजमोहन**, **सत्यप्रकाश**, **मनहर रे**, **निर्विकार शरण** आदि ने ज्यामिति और त्रिकोणमिति पर उच्चकोटि के ग्रंथ लिखे हैं । ज्योतिष में **गोरखप्रसाद**, **डॉ० सम्पूर्णानन्द** और **आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी** की कृतियाँ उल्लेखनीय हैं । इन महत्त्वपूर्ण सैद्धांतिक ग्रंथों के अतिरिक्त वैज्ञानिक आविष्कारों, पशु-पक्षियों, कीड़े,-मकोड़ों आदि पर अलग से सैंकड़ों पुस्तकें लिखी गई हैं ।

अध्यात्म और दर्शन—यद्यपि विज्ञान अध्यात्म और दर्शन का विरोधी है तथापि अध्यात्म और दर्शन के क्षेत्र में अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थों का प्रकाशन हिन्दी में हुआ है । **डॉक्टर सम्पूर्णानन्द**, **डॉक्टर भगवानदास**, **श्री बलदेव उपाध्याय**, **राहुल सांकृत्यायन**, **रामावतार**

शर्मा, डॉक्टर फतहसिंह, रामगोविन्द त्रिवेदी, हरिभाऊ उपाध्याय, रामदास गौड़, डॉक्टर देवराज, डॉक्टर रामानन्द तिवारी आदि ने अध्यात्म और दर्शन पर मौलिक और प्रामाणिक ग्रंथ लिखे हैं। वेद, पुराण, उपनिषद् आदि की अच्छी टीकाएँ उपलब्ध हो गई हैं। रामकृष्ण परमहंस, रामतीर्थ, विवेकानन्द, गांधी, राधाकृष्णन् आदि के ग्रंथ हिन्दी में आ गए हैं। भक्ति-सम्प्रदायों के ग्रंथों के प्रामाणिक अनुवाद भी हुए हैं। इस दिशा में गीता प्रेस, गोरखपुर का श्रम सराहनीय है।

मनोविज्ञान—मनोविज्ञान पर एक तो शिक्षा के प्रसंग में कार्य हुआ है और दूसरा सामान्य जीवन के प्रसंग में। **शिक्षा-सम्बन्धी** मनोविज्ञान के क्षेत्र में **लालजीराम शुक्ल** का कार्य महत्त्व का है। उनके बाद, **सरयूप्रसाद चौबे, अर्जुन चौबे कश्यप, कालूलाल श्रीमाली, सीताराम चतुर्वेदी, सीताराम जायसवाल, सुबोध अदावाल** ने श्रेष्ठ पुस्तकें लिखी हैं। इनमें शिक्षा-सिद्धान्त, शिक्षा-इतिहास, शिक्षा-प्रबन्ध, अध्यापन-कला, बुनियादी शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा आदि विषयों का विवेचन है। **सामान्य जीवन से सम्बन्धित मनोविज्ञान** के क्षेत्र में **हंसराज भाटिया, यदुनाथ सिन्हा, किशोरशरण वर्मा, द्वारकाप्रसाद** आदि द्वारा अच्छा कार्य हुआ है। **श्रीमती सावित्री वर्मा** ने बाल मनोविज्ञान पर विशेष रूप से कार्य किया है। फ्रायड़, हेवलॉक एलिस आदि की कृतियाँ भी अनूदित होकर आ गई हैं। प्रि० सूर्यभानु की अभी एक नई पुस्तक 'शिक्षा में नये प्रयोग' आई है; जिसमें शिक्षा में मनोविज्ञान विषय पर प्रकाश डाला गया है।

व्यावहारिक विज्ञान—चिकित्सा, इंजीनियरिंग, कृषि-गोपालन आदि अनेक विषय व्यावहारिक मनोविज्ञान में आते हैं। **चिकित्सा-क्षेत्र** में आयुर्वेद, एलोपैथी, होम्योपैथी, नेचुरोपैथी आदि सभी विषयों के ग्रंथों का प्रणयन हुआ है। **अत्रिदेव गुप्त, चतुरसेन शास्त्री, हरिदास वैद्य, भास्कर गोविन्द आणेकर, महेन्द्रनाथ पाण्डेय, पुरुषोत्तम मोदी, रामेश वेदी, सुरेन्द्रप्रसाद वर्मा** आदि की पुस्तकें उपयोगी हैं। **इंजीनियरिंग** में रेडियो, मोटर, फोटोग्राफी, वर्कशाप, लोको, वेल्डिंग आदि की पुस्तकें

निकली हैं। **डॉ० दयास्वरूप** का कार्य इस दिशा में महत्त्व का है। कृषि-गोपालन को लेकर ट्रैक्टर की खेती, खाद का उपयोग, फलों की खेती, ईख, धान, आलू, टमाटर, पशु-पालन, सिंचाई आदि महत्त्वपूर्ण विषयों पर पुस्तकें निकली हैं और निकल रही हैं। **अमरनाथ जिन्दल, कालीचरण गुप्त, जयराम सिंह, फूलदेव सहाय वर्मा, मोतीलाल सेठ, मोहनलाल गुप्त** आदि इन विषयों के लेखक हैं। **समाज-शास्त्र** में अर्थशास्त्र, राजनीति, नागरिक-शास्त्र, इतिहास आदि विषय आते हैं। अर्थशास्त्र में **कालिकाप्रसाद भटनागर, अमरनारायण अग्रवाल, भगवानदास केला, केदारनाथ** आदि ने अर्थशास्त्र-सिद्धान्त, मुद्रा-शास्त्र, बैंकिंग, बुक-कीपिंग आदि पर अच्छी पुस्तकें लिखी हैं। **राजनीति** पर **भगवानदास केला, अनन्त सदाशिव अल्तेकर, सत्यकेतु विद्यालंकार, आचार्य नरेन्द्रदेव** आदि ने अनेक दृष्टिकोणों से विचार किया है। **नागरिक शास्त्र** पर सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ **भगवदास केला** के हैं। **गोरखनाथ चौबे, बेनीप्रसाद** और **पुणताम्बेकर** की कृतियाँ भी लोकप्रिय हुई हैं। **इतिहास** में **जयचन्द्र विद्यालंकार, सत्यकेतु विद्यालंकार, काशीप्रसाद जायसवाल, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, अमृतलाल चक्रवर्ती, देवीप्रसाद मुंसिफ, ईश्वरीप्रसाद,** और **आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव** के ग्रन्थ उच्चकोटि के हैं। जैनियों से सम्बन्धित पुस्तकें लिखने वालों में **शीतलप्रसाद ब्रह्मचारी, हीरालाल जैन, कामताप्रसाद जैन** आदि और बौद्धों से सम्बन्धित पुस्तकें लिखने वालों में **राहुल सांकृत्यायन, आचार्य नरेन्द्रदेव, भदन्त आनन्द कौसल्यायन** और **भरतसिंह उपाध्याय** आदि प्रमुख हैं।

कोश : व्याकरण : भाषा-विज्ञान—कोश-निर्माण का कार्य नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की ओर से हुआ है। 'हिन्दी शब्द सागर' और वैज्ञानिक कोशों का निर्माण उसने बहुत पहले किया था, उसके बाद अन्य व्यक्तियों और संस्थाओं ने यह कार्य उठाया। नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने 'आरक्षिक शब्दावली', 'उर्दू-हिन्दी कोश', 'कृषि-शब्दावली', **'स्थानिक** परिषद् शब्दावली'; हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ने **'जीव-रसायन**

कोश', 'प्रत्यक्ष शारीर कोश', 'भूतत्त्व विज्ञान कोश', 'शासन शब्द कोश'; हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने 'तुलसी-शब्द-सागर'; लखनऊ विश्वविद्यालय ने 'ब्रजभाषा सूर कोश' आदि का प्रकाशन किया है। सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य डॉक्टर रघुवीर का है, जिन्होंने 'आंग्ल भारतीय महाकोश' एवं 'आंग्ल भारतीय पक्षिनामावली'-जैसे महत्त्वपूर्ण कोश निकाले हैं। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के सम्पादन में प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य कोश' भी महत्त्व का है। 'बृहत् हिन्दी कोश', 'नालन्दा विशाल शब्द सागर' और 'प्रामाणिक कोश' भी उल्लेखनीय कृतियां हैं।

व्याकरण के क्षेत्र में कामताप्रसाद गुरु के 'हिन्दी व्याकरण' के बाद किशोरीदास बाजपेयी का कार्य प्रशंसनीय है, जिन्होंने 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' और 'ब्रज-भाषा का व्याकरण' और 'हिन्दी शब्दानुशासन'-जैसे प्रामाणिक व्याकरण लिखे। हाल ही में राष्ट्रभाषा का एक बृहद् व्याकरण भी उन्होंने लिखा है। भाषा-विज्ञान पर डॉ० **सिद्धेश्वर वर्मा, डॉक्टर मंगलदेव, श्यामसुन्दरदास, उदयनारायण तिवारी, कपिलदेव द्विवेदी, धीरेन्द्र वर्मा, बाबूराम सक्सेना, सरयूप्रसाद अग्रवाल** आदि की पुस्तकें उच्चकोटि की हैं। इस विषय में हिन्दी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय के संचालक **डॉक्टर विश्वनाथप्रसाद जी** भी प्रयोगात्मक भाषा-विज्ञान पर ऐतिहासिक कार्य कर रहे हैं। उनके द्वारा संस्थापित प्रयोगशाला एशिया में अद्वितीय है।

कला और संस्कृति—शिल्प-कला पर **रायकृष्णदास**, और **द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल**; साज-सज्जा पर **जगदीश मित्तल** और **कमला मित्तल**, चित्र-कला पर **रायकृष्णदास, नानालाल मेहता, शैलेन्द्रनाथ दे**, संगीत-कला पर **उमेश जोशी** आदि की कृतियां महत्त्व की हैं। संस्कृति पर **वासुदेवशरण अग्रवाल, मोतीचन्द्र, हजारीप्रसाद द्विवेदी, चतुरसेन शास्त्री, बाबू गुलाबराय** आदि ने विशेष कार्य किया है।

प्रौढ़, और बालपयोगी साहित्य—केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के प्रोत्साहन के फलस्वरूप प्रौढ़ और बालोपयोगी साहित्य की हजारों सुन्दर

पुस्तकें हिन्दी में निकली हैं। इनमें कुछ ऐसी हैं जो अंग्रेजी से अनूदित की गई हैं और जिनकी हिन्दी में कमी थी। बाल-साहित्य में आजकल विभिन्न प्रदेशों के लोक-गीतों एवं लोक-कथाओं पर सुन्दर सचित्र पुस्तकें प्रकाशित की जा रही हैं, जिसके द्वारा हमारे शिशु एवं किशोरों में साहित्य के प्रति रुचि उत्पन्न हो रही है। डॉक्टर इन्द्रनाथ मदान ने साहित्यिकों की बालोपयोगी जीवनियाँ लिखने की प्रथा का सूत्रपात किया है।

यात्रात्मक साहित्य—हिन्दी में इस प्रकार के साहित्य-सृजन में **सत्यदेव परिव्राजक, राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, डॉ० सत्यनारायण, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० भगवतसरण उपाध्याय, अज्ञेय, रामवृक्ष बेनीपुरी, श्री ब्रजकिशोर नारायण, मोहन राकेश अक्षयकुमार जैन, यशपाल जैन, सेठ गोविन्ददास** तथा **कुलभूषण** आदि ने विशेष योग दिया है। इन साहित्यकारों ने हिन्दी-पाठकों के सम्मुख सरस एवं सरल भाषा में देश या विदेश के सुन्दर वृत्तान्त प्रस्तुत किये हैं।

शिकार-साहित्य—शिकार-साहित्य में विशेष योग देने वालों में **श्रीराम शर्मा** एवं **बाबू वृन्दावनलाल वर्मा** का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

सारांश यह कि हिन्दी-गद्य में आज सब विषयों की पुस्तकें उपलब्ध हैं। अनूदित रूप में भारत और विदेश की सभी विषयों की पुस्तकों को हिन्दी में लाने का स्तुत्य प्रयत्न भी चल रहा है। इस दिशा में साहित्य-अकादेमी द्वारा प्रकाशित साहित्य ने विशेष योगदान दिया है।

●